Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य – मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 23, अंक 2
जुलाई, 2009

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 23 अंक 2 जुलाई, 2009

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, एम 2/4, विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन–456010
2. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
3. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–96

सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725
3. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा के.बी.एस. प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

	संपादकीय	*यशदेव शल्य*	1
1.	भावन	*मुकुंद लाठ*	3
2.	बौद्ध दर्शन का यथार्थवाद	*नारायण शास्त्री द्रविड़*	27
3.	प्रमाण व्यवस्था एवं प्रमाण सम्प्लव	*आनन्द मिश्र*	42
4.	अभावज्ञान की समस्या : एक अनुभववादी समाधान	*सच्चिदानन्द मिश्र*	56
5.	हिन्द स्वराज और कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का पुनर्पाठ	*अम्बिकादत्त शर्मा*	70
6.	पुस्तक–समीक्षा दी सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म – हरिशंकर प्रसाद	*अम्बिकादत्त शर्मा*	91

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
5.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
6.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
7.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
8.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादकीय

यशदेव शल्य

उन्मीलन का प्रकाशन डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा के प्रयत्न से पुनः आरंभ हो रहा है, यह दर्शन के हम भारतीय विद्यार्थियों के लिए बहुत हर्ष की बात है। भारत में दार्शनिक विचार की परंपरा बहुत लंबे समय से अवरूद्ध रही है। आधुनिक काल में विश्वविद्यालयों में दर्शन एक वैकल्पिक विषय के रूप में प्रवर्तित किया गया तो इसका अध्ययन एक पाठ्य विषय के रूप में आरंभ हुआ, जिसमें दूसरों के विचार स्मरण कर परीक्षा में उत्तीर्णांक प्राप्त करना उद्देश्य रहता है। परिणामतः यह विषय दूसरों के विचार पढ़ने और पढ़ाने के रूप में ही हमारे देश में लंबे समय तक रहा है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी और अध्यापक दार्शनिक विचार में किसी रूचि के कारण नहीं बल्कि वैकल्पिक विषयों में एक विषय के रूप में दर्शन को चुन लेते रहे हैं। किन्तु दर्शन का यह सूचनात्मक ज्ञान दार्शनिक अन्तर्दृष्टि और दार्शनिक सृजनात्मक कल्पना की योग्यता संभव नहीं करता। यही कारण है कि दर्शन हमारे यहां विश्वविद्यालयों में परीक्षार्थ अध्ययन के विषय के रूप में ही रहा, यह विचार के विषय का रूप नहीं ले पाया। अध्यापकों का कार्य तो यों भी दूसरों के विचारों या कृतित्व का विवरण और व्याख्या प्रस्तुत करना ही होता है, स्वयं विचार करना या अन्य सृजनात्मक लेखन करना उनका कार्य नहीं होता। किन्तु कुछ लोग तो ऐसे भी होने ही चाहिए जो सृजनात्मक प्रतिभा सम्पन्न हों – कवि के रूप में भावनात्मक सर्जक और दार्शनिक के रूप में विचारात्मक सर्जक। यह प्रतिभा अध्ययन –अध्यापन से नहीं उपजती, यह सहज होती है। इसका उदय व्यक्तियों और जातियों दोनों में ही आगन्तुक जैसा ही होता है, यह अभ्यास या श्रम से साध्य नहीं होता। किन्तु इस साधना के चरितार्थ होने के लिए अवसर की उपलब्धि होनी चाहिए, यदि इसके साथ परिवेश में प्रेरक तत्त्व भी हों तब तो कहना ही क्या है !

किन्तु इस दृष्टि से हमारे देश का एक बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि यहां अंग्रेजों के राज्य की स्थापना के साथ हमारे वैचारिक आभिजात्य की भाषा भी अंग्रेजी ही हो गई। आधुनिक देशी भाषाएं अशिक्षित वर्ग के व्यवहार की भाषाएं मान ली गईं और संस्कृत प्राचीन भाषा के रूप में देखी जाने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लगी। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो गई। इससे हमारी विचार की सामर्थ्य ही कुंठित हो गई। इस परिस्थिति से उबरने के लिए आवश्यक है कि हम दर्शन को अपने में सृजनात्मक विचार के उद्दीपन के लिए पढ़ें, अन्यों के विचारों के संग्रहालय बनने के लिए नहीं। किन्तु इसके लिए अनुकूल परिस्थिति का होना अपेक्षित है। विचार के लिए संवाद, या कम से कम श्रोता–पाठक का होना आवश्यक है। पत्रिका इसके लिए मंच प्रस्तुत करती है। यह मंच प्रस्तुत करने के लिए मैंने 1955–56 में डॉ. संपूर्णानंद जी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ अध्यापकों और कुछ और थोड़े से लोगों का सहयोग संजोया था और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका की स्थापना की थी। इस मंच की भाषा हिन्दी अपनायी गई, जो कि भारत के बड़े भाग की मातृभाषा और पूरे देश की पारस्परिक संवाद की भाषा है। हमारे देश में आधुनिक काल में विचार के अवरूद्ध होने का एक बड़ा कारण विचार के लिए एक विदेशी भाषा को अपनाना भी रहा हैं। इसलिए हमने इंडियन फिलॉसफीकल कांग्रेस के प्रतिपक्ष में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की स्थापना की और इंडियन फिलोसोफीकल क्वार्टली के प्रतिपक्ष में दार्शनिक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। यह पत्रिका लगभग 22 वर्षों तक मेरे संपादन में चली और आज भी यह पत्रिका अपने मूल उद्देश्य के अनुरूप तो नहीं लेकिन उसकी अभीप्सा में किसी तरीके से चल ही रही है। उसके बाद मेरे प्रयत्न से क्रमशः तत्त्वचिन्तन, दर्शन–समीक्षा और उन्मीलन पत्रिकाएं निकलीं। प्रथम दो पत्रिकाएं बहुत अल्पजीवी रहीं, उन्मीलन 2009 (22 वर्ष) तक निकली और फिर बंद हो गई। यह हमारे देश के दार्शनिक विचार के लिए दुर्भाग्य की बात ही कही जा सकती है। अब अंबिकादत्त जी इस दुर्भाग्य की अवधि को समाप्त करने के संकल्प के साथ इस पत्रिका का आरंभ करने जा रहे हैं। वे एक योग्य दार्शनिक विचारक हैं और सदाशय तथा सामर्थ्य से युक्त भी हैं। इसलिए यह आशा करना निराधार नहीं है कि उनके द्वारा पुनः प्रवर्तित की जा रही यह पत्रिका अपने उद्देश्य में सफल होगी। इसके लिए मेरी ढेरों शुभकामनाएं हैं। मेरे से जितना बन पड़ेगा मैं इसमें उनको सहयोग देकर अपने को कृतार्थ समझूंगा।

पी–51, मधुवन पश्चिम,
किसान मार्ग, जयपुर–302015

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावन

मुकुंद लाठ

भावन का कुछ ऐसा लक्षण किया जा सकता है: व्यंजित भाव–चित्त में रहते हुए ही विमर्श–निमज्जन–अवगाहन–आलोड़न–परीक्षण। इसे भाव–चित्त द्वारा अपने स्वरूप और अर्थ का संधान भी कह सकते हैं। भावन विचार के समकक्ष ही, उसी धरातल का, आत्म–चेतन विमर्श–कर्म है। इसे विचार का समकक्ष कहने का तात्पर्य यह है कि यह विचार की तरह ही चेतना की व्यापकता में स्थित होता है और अपने विमर्श को अपने प्रत्यङ्मुख स्वरूप में समोता हुआ उसका आलोकन–मंथन करता है।

प्रश्न होगा : विमर्श के लिये ताटस्थ्य चाहिये, पर भाव में–या भाव–चित्त में–रहते हुए भाव से तटस्थ नहीं हुआ जा सकता–भाव तो स्वभाव से ताटस्थ्य का शत्रु है। वह चित्त को ऐसा आत्मसात् कर लेता है कि चित्त में अपने से अलग हो कर अपने को देख पाने का अवकाश ही नहीं छोड़ता। भाव के विपरीत बुद्धि में तटस्थ होने का स्वभाव सहज है–बुद्धि–चेतना में–या कहना चाहिये कि बुद्धि–निष्ठ विचार चेतना में–अपने से हट कर अपने को देख पाने का अवकाश उसके स्वरूप में ही निहित है। यही विचार की प्रत्यङ्मुखता है जो विचार में प्रकट दीखती है; भाव में ऐसा नहीं होता।

विचार के लिये विमर्श का क्षेत्र इसलिये बनता है क्योंकि विचार का विमर्श विचार के ही भीतर समाया रहता है और यों उसकी अपने–को–देखती प्रत्यङ्मुख दृष्टि के अंतर्गत रहता है। इसके विपरीत भाव पूरी तरह पराङ्मुख होता है, तभी उसमें विमर्श जैसा कुछ बनता ही नहीं दीखता। भाव में चेतना भाव–समर्पित रहती है, विचार की तरह भाव में आत्मबोध नहीं होता। उलटे, हम विचार कर रहे हों और भाव आ दबोचे तो विचार का भी प्रत्यङ्मुख ताटस्थ्य भाव–निमज्जित होकर भटक जाता है। बात को यों भी कह सकते हैं कि भाव के लिये कुछ 'विमर्श' जैसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि भाव जिस विषय में डूबा रहता है उसे अपने में समो कर उससे प्रत्यक् नहीं हो सकता–उसका द्रष्टा नहीं बन सकता। वह विषय–सात्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो रहता है, अपने विमर्श को आत्मसात् नहीं कर सकता,क्योंकि भाव–चेतना में आत्म–बोध का अवकाश ही नहीं। विमर्श करता आत्म–द्रष्टा उसमें जाग ही नहीं पाता। हम भाव से हट कर ही विमर्श की बात कर सकते हैं। यह विचार–चेतना का ही काम है, और वह भी उतना ही जितना वह भाव–दंश से त्रस्त न हो। आत्म–बोध की पहली शर्त है, अपने आप को आपना विषय बना पाना। विचार–चेतना स्वभाव से ही अपने आप को अपना विषय बनाती है; और इसलिये वह विषय–मात्र को विमर्श का विषय बना सकती है–भाव को भी विषय बना सकती है, उस पर विमर्श कर सकती है। पर भाव के लिये यह संभव नहीं। भाव अपने–को–देखता विषयी नहीं हो सकता, इसलिये अपने को अपना विषय भी नहीं बना सकता। यों, भाव–चित्त (या चेतना) में रहते हुए भाव पर विमर्श की बात वृथा ही नहीं, आत्मविरूद्ध भी लगती है।

यहां प्रश्न उठ सकते हैं। पहला तो यही कि हम भाव किसे कहना चाह रहे हैं? भाव की बात करते हुए हम अक्सर क्रोध, भय, जुगुप्सा, काम–रति जैसे आवेगों की बात करते हैं, और इनको ठीक ही विचार के आत्मबोध, आत्म–परीक्षण में बाधक पाते हैं। संकल्प के विवेक और आत्म–संयम में तो इन्हें और भी अवरोधक पाते हैं। पर एक बात पर ध्यान दें। किसी नाटक, कहानी या उपन्यास में हम भाव–चित्त में रहते हुए भी भाव के द्रष्टा भी होते हैं : भाव में रहते हुए भी भाव से तटस्थ रह कर भाव का अवलोकन कर पाते हैं। ऐसे संदर्भो में हम भाव से भावित होते हैं पर अलग, निःसंग रहते हुए ही इनमें डूबते हैं। यह विचार–करने जैसी ही स्थिति है। साधारण भय में और कथा से उदित हुए भय में महत् अंतर देखिये। इसी अंतर के आधार पर भय में और भयानक रस में भेद किया गया है–भय का रस रूप किसी नाटक या कथा के भावन से संबद्ध होता है। कथा में व्यंजित भाव–चेतना यों जागता है कि हम भाव को ही भाव की आँख से देख–परख पाते हैं। यह बात हमारे यहां के रस–चिन्तन में स्पष्ट है। पर पुराने विचारक यहां भाव के आत्म–द्रष्टा होने से ज़्यादा जोर भय के अब आस्वाद्य हो पाने पर देते थे। लेकिन सच पूछिये तो तत्त्व की बात यहां भय जैसे भाव के स्वादु हो जाने की नहीं है। बल्कि थोड़ा भी ध्यान दें तो उभर ही आता है कि स्वादु होने की बात भी यहां इसीलिये की जा सकती है कि क्योंकि भाव–चेतना यहां अपने ही प्रति तटस्थ हो पाती है–भीत नहीं होती, भय के अर्थ की द्रष्टा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो पाती है। आस्वाद्यता की बात यहां अवांतर ही नहीं, मूल तत्त्व से विच्युति है—यहां मिष्ट भोजन चखने जैसा कोई इन्द्रिय—परक बोध नहीं जागता। भय अब अर्थ बन कर भाव—चेतना की प्रत्यङ्मुख व्यापकता का—भावन का—अंग हो जाता है, उसका भाव—स्वरूप जागता रहता है और चेतना को अपनी तरह से स्पंदित रखता है—पर एक आवेग—हीन निःसंगता के साथ। यह निःसंगता विमर्श—गर्भ होती है : भय में निमज्जित रहती हुई भी उसे देखती— आँकती—जांचती है। भाव—चेतना के आत्मबोध को 'आस्वाद्य' कहने का, मैं समझता हूं, इतना ही अर्थ निकाला जा सकता है : भाव की आवेग की उद्विग्नता या विह्वलता से उभरी हुई प्रत्यङ्मुख आत्मस्थता। स्पष्ट ही, आस्वाद्यता को कथा, नाटक....... संबद्ध भाव—बोध का व्यावर्तक धर्म तो नहीं ही कहा जा सकता है। उलटे, भय की विभीषिका का प्रत्यङ्मुख आत्मावलोकन करते भाव—चित्त को भय का नाटक, कथा, उपन्यास के भीतर से जैसा घोर परिचय मिल सकता है, वह भय के आम अनुभव से कहीं गहन—सघन—व्यापक और त्रास—जनक हो सकता है। उसे 'सुखकर' या 'रसमय' कहना आस्वाद्यता का झूठा हठ होगा : भावन के भीतर भय के ऐसे विकट आयाम खुल सकते हैं जो हमारे अपने निजी अनुभव को सीमित—संकीर्ण ठहरा देते हैं। ये भावन को विस्तार देते हैं, रंजन को नहीं। मूल बात यह है कि यहां हम भाव की एक विकराल दिशा का (त्रास/आतंक/विभीषिका) का अवगाहन—आलोड़न कर पाते हैं। भाव—चेतना आत्मबोध के साथ, भाव की दृष्टि से अपने को गहराई से देख—परख पाती है, वैसे ही जैसे विचार अपने आप को अपने भीतर स्थित अपने विषय रूप में देखता—परखता है।

पर बात यहां विचार की होती ही नहीं। इसलिये यहां 'विषय' की बात करना ठीक नहीं। अभी हमने भय की बात की और इस तरह की कि मानो भय नाम का भाव भावन का विषय होता है। पर हमारी बात का यह रूप विचार की विवेचना में आकर बन रहा है। पर भावन अपने विमर्श को विचार—विषय की तरह अपने से अलग, अपने सामने नहीं खड़ा करता—भाव के व्यंजित अर्थ को अपनी व्यापकता में समोता है, तटस्थ रहता हुआ भी उसमें निमज्जित होकर उसे आत्मनिहित करता है। तभी इसे 'भावन' का अलग नाम देना उचित है। भावन के आत्मबोध में व्यंजित भाव का विमर्श विचार से भिन्न होता है। व्यंजना अर्थ की ही होती है, पर अर्थ के स्वरूप में मौलिक भेद होता है। उसी भेद को यहां उभारने की चेष्टा करूंगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाटक, कहानी, उपन्यास ये जब विचार के विषय होते हैं, अपने स्वरूप और लक्ष्य से हट जाते हैं–तब इन्हें नाटक, कहानी, उपन्यास कहना भी ठीक नहीं रहता। इसीलिये इन्हें भावन के संदर्भ में 'विषय' कहना ठीक नहीं। विषय का अध्यवसाय होता है। भावन के ग्रहण में अध्यवसाय–बुद्धि का काम नहीं होता जो विचार के लिये अपने विषय को 'है' या 'नहीं है' की कोटि में रखती है, क्या है का निर्णय करती है, सत्यमिथ्या की श्रेणियां बनाती है। भाव–चित्त में रहते हुए भाव का ग्रहण 'भाव है या 'अमुक भाव है' ऐसा अध्यवसाय नहीं करता। न उस भाव का वर्णन–निरूपण–लक्षण करता है–ये तो भाव–चेतना से निकल कर विचार–चेतना में आने पर होता है। और तब हम कथा, नाटक.... को काल्पनिक कहते हैं। कल्पना यहां ऐसी निर्मिति प्रस्तुत करती है जो हमारे भाव–चित्त की ओर उन्मुख होती हैं। वह भाव का विषय–रूप में अध्यवसाय नहीं करती, उसे व्यंजित करती है। व्यंजना यहां भाव–चेतना के विचार–भिन्न ताटस्थ्य और आत्म–बोध की ओर इंगित करती है, जो अपने स्वभाव में ही विचार के अध्यवसाय से अलग है। व्यंजना भावन के लिये भाव की ही होती है, जो विमर्श होकर अर्थ–रूप हो जाता है। यों व्यंजित अर्थ भाव–चेतना के द्रष्टा–भाव में–भावन में–विषय–भिन्न विमर्श बन कर जागता है जहां भाव के प्रति भावन प्रत्यङ्मुख होता है। कह सकते हैं कि भाव–चित्त अपने को देखता है, पर विषय बना कर नहीं।

क्योंकि भावन में भाव विषय नहीं बनता, भाव ही रहता है, लगता है इसीलिये पुराने लोगों ने यहां भाव के आस्वाद्य–रूप रस हो जाने की बात की है। रस–चिंतकों के लिये भाव ही काव्य, कथा, नाटक..... के माध्यम से व्यंजित हो कर रस में निष्पन्न–या उन्नीत–होता है। इस 'निष्पन्न होने का' मार्ग साधरणीकरण कहा गया है : लोक में अनुभूत भाव साधारणीकृत हो कर रस में रूपांतरित हो जाता है। हम बात को यों भी कह सकते हैं : साधारणीकरा वह व्यापार या मार्ग है जिससे भाव–चित्त की प्रत्यङ्मुखता में जाग उठता है। पर फिर विचार से अंतर क्या? विचार के लिये भी विषय साधरणीकृत होता है–तभी अर्थ–रूप में विचार का अंग बन कर विमर्श होता है। कह सकते हैं कि विचार से अंतर यहां व्यंजना का है। व्यंजित भाव ही होता है, पर वह अर्थ–रूप होता है इसलिये साधारणीकृत भी होता है–साधारणीरण यहां भाव को आस्वाद्य बना देता है। व्यंजना के मार्ग से साधारणीकृत भाव आम व्यवहार के आवेग–उद्वेग से हट जाता है और रस का रूप ले पाता है। साधारणीकृत भाव से हम नोदित–उद्वेलित नहीं होते;

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बल्कि उसे भाव की आँखों से अर्थ–रूप में देखते हुए उसके स्पंद का सुखद अनुभव कर सकते हैं। पर रस–व्यापार और विचार में साधारणीकरण का भेद पुराने विचार में अस्पष्ट ही रहता है। भ्रांति जगाता है। विचार में अर्थ साधरण या सामान्य रूप में विषय बना कर जागता है। क्या भावन का विमर्श भी उसी तरह भाव को साधारणीकृत विषय बनाता है? फिर व्यंजना का अलग व्यापार क्या? पुराने विचार में बात व्यामिश्रित रहती है। व्यंजित भाव के साधारणीकरण में और विचार–विषय के साधारणीकरण में कोई सार्थक भेद सामने नहीं आता।

रस–चिन्तन कहता है कि नाटक द्वारा व्यंजित भय मेरा या नट का या नाटक के पात्र का या नाटककार का, किसी का नहीं होता, साधारणीकृत (सामान्य) होता है, तभी हम उससे भीत नहीं होते और उसका रस या आस्वाद ले सकते हैं। यहां यह कहना ठीक है कि सामान्य मेरा या किसी का नहीं होता, पर यहां व्यंजना के संदर्भ में 'सामान्य' का क्या आशय ? विचार के लिये भय किसी का नहीं होता–साधारणीकृत होता है–और अध्यवसित विषय के रूप में जागता है। 'भय है', भय का यह ग्रहण भी सामान्य ही होता है–और किसी का नहीं होता। पर यहां भय का अध्यवसाय होता है, भावन नहीं। यह विचार का ग्रहण है। भय यहां विचार का सामान्य है, यह कथा–बोंध में जागते 'भाव की ही आँख से भाव को देखना' नहीं कहला सकता। फिर 'भय है' इस अध्यवसाय में व्यंजित कुछ नहीं होता–भय–सामान्य यहां अभिहित ही होता है। रस–चिंतकों ने रस–संदर्भ में अभिधा का प्रखर विरोध किया है। यह बात बहुत ज़ोर दे कर कही है कि 'भय' 'भय' कहने से भयानक रस की निष्पत्ति नहीं होती; भय को व्यंजित करने की सामग्री दूसरी ही होती है–तत्संगत कल्पना–प्रसूत होती है। पर फिर साधारणीकरण की बात क्यों? 'भय' कह कर भय को अभिहित करने से भी भय का साधरणीकृत बोध ही होता है। ऐसे में पुराने लोग रस के व्यंजित होने की जो बात करते हैं, वह साधारणीकरण की धारणा में उतरती नहीं दीखती। साधारणीकरण का रस–निष्पत्ति से जो संबंध ठहराया ग़या है वह बनता नहीं।

यहां शल्य जी ने एक और बात कही है जिसे ध्यान में रखना चाहिये। शल्य जी कहते हैं कि यह जो कहा जा रहा है कि नाटक का भय किसी का नहीं होता, यह ठीक नहीं, क्योंकि नाटक या उपन्यास में भय उस पात्र का ही होता है जिसे भय हो रहा है (अर्थात् यहां साधारणीकरण बन ही नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहा)। नाटक में सीता को रावण से भय है; हमारे नाटक–ग्रहण में भी वह कथा–स्थित सीता की रावण–भीति के रूप में ही जागता है। उसे 'किसी का नहीं' कह कर भय–सामान्य नहीं कह दिया जा सकता। नाटक में भय किसी का नहीं हो तो भय के रूप में भावित भी नहीं होगा–वह विचार का ही विषय होगा, भावन का नहीं। कहा जा सकता है कि नाटक का पात्र काल्पनिक होता है, इसलिये यहां किसी के भय की बात करना ठीक नहीं। पर नाटक की काल्पनिकता को तो हम जान कर और जानते हुए मान कर ही चलते हैं। तभी वहां 'वास्तव कुछ हो रहा है' जैसे अध्यवसाय की बात नहीं होती। पर किसी भी नाटक की अपनी कथा होती है जिसकी घटनावली, उसकी प्रस्तुति का नख–शिख, पात्रों के अंतःसंबंध की बुनावट–यही व्यंजना का आलंबन होता। नाटक के भावन को इस आलंबन की अंतः–रचना से अलग नहीं किया जा सकता। उसके पात्रों के भाव, भिन्न पात्रों के भाव–संबंध, इन संबंधों से बनते भाव–परिसर का विशेष आवह–इसके बिना नाटक का नाटकत्व ही नहीं बनता। भावन में नाटक–व्यंजित भावों का–बल्कि भाव–व्यूहों का–विमर्श नाटक के अंग–प्रत्यंग–बोध के भीतर से ही उभरता है।

कृति–रूप में नाटक नितांत विशेष होता है–हर कलाकृति, चाहे उसका माध्यम शब्द न हो, अपनी अंतः–रचना में विशिष्ट होती है। और इसी रूप में भावन के विमर्श में जागती है। तभी वाल्मीकि की रामायणकथा में सीता का भय तुलसी की राम–कथा के सीता–भय से अलग होता है–दोनों सीतायें भिन्न अवयवियों का अंग हैं जहां भावों की, भाव–संबंधों की बुनावट अपना अलग विशेष उभारती है। यह बात हमारे भावन में जागती हे। सच पूछिये तो 'सीता के भय' जैसा सामान्य भी यहां विचार के लिये ही बनता है–जब हम भिन्न कथाओं के विश्लेषण या व्याक्रिया में 'सीता' और 'भय' को सामान्य पाते हैं। पर इन दो भिन्न अवयवियों में भय एक पूरे गूँथाव का अंग बन कर आगे आता है, भावन जिसे अंगी से विच्छिन्न कर के नहीं देखता। इस अर्थ में कलाकृति की तुलना व्यक्ति से हो सकती है। व्यक्ति को हम व्यक्ति–रूप में देखते हैं तो उसके भय को भी हम तत्–व्यक्ति के संदर्भ में रखते हैं। अलग कर के नहीं देखते। वाल्मीकि और तुलसी की कथाओं में भी 'सीता के भय' को या 'राम की निर्भीकता' को सामान्य के रूप में अलग निकाल कर देखना विचार का काम है, भावन का नहीं। भावों की संगतियां सरल, जटिल, उथली, गहरी, व्यापक, संकीर्ण.... हो सकती हैं। रस–चिंतन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्थायी–संचारी के आदर्श गुच्छों में इस बात की स्वीकृति है। पर कल्पना बड़ी सीमित–संकीर्ण है। बल्कि यह सोचिये कि वाल्मीकि या तुलसी की राम–कथाओं में किसी स्थायी–भाव विशेष की बात करना–जो अनुकूल संचारी–भावों के मेल से रस में निष्पन्न होता है– यह बात ही बड़ी सपाट सी लगती है–भावसंगतियों की ऐसी सीधी–सरल व्याख्या नहीं की जा सकती। किसी भी अच्छी कथा में संगति का गुँथाव इस व्याक्रिया में नहीं समा सकता। पूरे अवयवी का कई–भावों–से–बना गुँथाव किसी एक स्थायी–संचारी–गुच्छ और यों किसी एक रस के घेर में नहीं लाया जा सकता। दोनों ही रामायण–कथायें भावन की दो व्यापक–विराट् दृष्टियों की व्यंजना करती हैं, जिन्हें किसी एक रस या अनेक रसों के किसी महारस–जैसे मेल के रूप में भी आँकना ठीक नहीं लगता। पर यह ठीक है कि भाव–संगति बनती है और उसका एक विशेष होता है जो भावन के अपने विमर्श में जागता है। ऐसी संगति का बनाना–साधना भी भावन की ही अपेक्षा रखता है। विचार की भी संगत निर्मितियां होती हैं–जैसे अभ्युपगम, सिद्धान्त। इनके पीछे भी एक दृष्टि होती है और इन्हें भी हम विशिष्ट अवयवी कह सकते हैं। इनकी संगतियों का आधार युक्ति–तर्क–बोध होता है। बल्कि कह सकते हैं कि हम संगति की धारणा को ही युक्ति–तर्क से जोड़ने के आदी हैं। पर भावन की संगतियां युक्ति–तर्क की धरती पर नहीं बनतीं, भावन की अपनी अलग गति होती है जिसे हम कथा, नाटक, उपन्यास में–या किसी भी कलाकृति में देख सकते हैं। इन कृतियों की परख भी भावन की धरती पर होती है–'बात बन नहीं रही' का बोध भी वहीं जागता है।

एक और बात देखिये। भावन की संगतियों में अवयवी–बोध के 'व्यक्ति–गत' विशेष को विचार से कहीं अधिक निर्मिति–परक भी देखा जा सकता है। यह ठीक है कि विचार का हर सिद्धांत सामान्य प्रत्ययों का एक विशेष, अनन्य–साधारण अवयवी निर्मित करता है जो एक दृष्टि–विशेष को विशिष्ट रूप देता है। पर कलाकृति के विशेष से यहां एक बड़ा अंतर होता है जो विचार के विशेष को सामान्य की ओर ले जाता दिख सकता है। इसे अभिधा और व्यंजना के भेद के रूप में भी देखा जा सकता है। अभिहित बात को दूसरी तरह भी अभिव्यक्त किया जा सकता है; व्यंजना की सामग्री बदल दें तो 'बात' बदल जाती है। सिद्धांत का अवयवी विशेष होता हुआ भी अभिहित होता है। इसीलिये उसी प्रत्यय या प्रत्यय–व्यवस्था को दूसरे शब्दों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में अभिहित किया जा सकता है। ऐसा व्यंजना में नहीं होता। व्यंजना में शब्द या शब्द–योजना बदले तो व्यंजित भाव में भी अंतर आ जाता है। हम वाल्मीकि या तुलसी रामायण के शब्द–संभार को कवि–सामर्थ्य के साथ भी बदलें तो भी रचना बदल जायेगी, भावन के लिये 'वही' नहीं रहेगी। पर उसी सिद्धांत को निपुणता से नितांत भिन्न शब्दों में–बुनाहट के–युक्तियों के भी–कुशल हेर–फेर के साथ–सामने रखें तो भी 'वही सिद्धांत' का बोध बना रहता है। रामायण पर लिखे गये किसी विवेचना–सिद्धांत को हम दूसरी तरह से भी कह दें तो बात वही बनी रहती है। अगर ऐसा न हो तो सिद्धांत की प्रस्तुति में व्यंजना का भी हाथ मानना होगा–जैसा कि कुछ विचार–रचनाओं के साथ देखा ही जाता है। पर कलाकृतियों के साथ ऐसा नहीं होता। तभी वाल्मीकि और तुलसी की रामायण–कथाओं को विचार के विश्लेषण में 'वही' कथा कहते हुए भी दोनों को 'वही कलाकृति' नहीं कह सकते।

विचार की तरह भावन की भी दृष्टियां होती है जिनकी व्यापकता, गहराई या ऊँचाई की थाह लेते हुए ही हम कला–कृति को महत् या उत्तुंग या अगाध कहते हैं। ऐसा ही दृष्टि–भेद' राम–कथा के ही तुलसी या वाल्मीकि कृत रूपों में देखा जाता है जो दोनों में भावों और उनकी व्यंजक सामग्री की विशेष बुनाहट में उभरता है। दोनों कथायें कई भावों की तरंग–उठाते दो सागर हैं जो तरंगों या तरंग–गुच्छों को अपनी अपनी तरह से समोते हुए उभरते हैं। पर भाव–दृष्टि ही यहां अवयवी के रूप में विभिन्न भावों के तरंग–गुच्छों को संजोती हुई एक व्यापकता में पिरोती है। दृष्टि के मर्म में जागता अवयवी अवयवों को पिनद्ध करता है। रचना–परम्पराओं में किसी नियम या पहले से बँधी योजना में अवयवों को पिरो कर बात बनाने की चेष्टा भी होती है, पर हलकी, निचली ही ठहरती है। कला–विश्लेषण में नियत पद्धतियों के सहारे अवयवों से अवयवी पर पहुँचने के रास्तों की सूझ की जाती रही है जिससे सृजन दृष्टि की प्रज्ञा–प्रतिभा के विरल–प्रकाश से हट कर सदा–काम–आते उपाय–कौशल में ढल जाये। यहां दृष्टि अपनी स्वतन्त्र पकड़ से बच कर एक सधे–सधाये मार्ग का रूप ले लेना चाहती है। ऐसा विचार में भी होता ही है। पर विचार हो या भावन, हम यह भी जानते रहते हैं कि यह उन्मेष का मार्ग नहीं है। भारत के स्थायी–संचारी गुच्छों में भी एक नियत पंथ बाँधने की चेष्टा है, पर तुलसी और वाल्मीकि की कृतियां उस रास्ते नहीं चलतीं–महाभारत तो बिल्कुल नहीं। ऐसी विराट् दृष्टियों को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कृति–विशेष की व्यापक–उदात्त भावन–प्रज्ञा भी कहा जा सकता है। पर किसी भी अच्छी कृति में दृष्टि ही प्रधान होती है जो अपनी योजना सहज बाँधती है, किसी नियम से नहीं।

रस–चिंतन के स्थायी–संचारी–बंध के रूप में कल्पित साँचों में निर्मिति–को–नियत–करती जो साहित्य की धारणा बनती है वह आलोचना–दृष्टि में भी संकीर्णता उभारती दिखती है। महाभारत को काव्य की कोटि में ही नहीं रखा जाता था। आनंदवर्धन ने रखा। पर स्थायी–संचारी–बंध को आधार बनाती रस की ही दृष्टि से। उन्होंने महाभारत में शांत–रस की निष्पत्ति की बात की है। पर इसका क्या आशय बनता है, समझ में नहीं आता। आनंदवर्धन ने भी समझाने की कोशिश नहीं की है–पर करते तो क्या कहते? शायद यही कि महाभारत से जीवन के प्रति निर्वेद की गहरी भाव–दृष्टि बनती है। मानाकि ऐसा हो, तो भी शांत–रस की निष्पत्ति के लिये स्थायी–संचारी का गुच्छा वहां कैसे बनता है, यह वे कैसे दिखाते? रस–चिंतन में निर्वेद के नियत, तदनुकूल संचारी अपेक्षित होते हैं, महाभारत ऐसी किसी लकीर पर चलता ही नहीं। लगता है कि इसीलिये आनंदवर्धन 'शांत' कह कर रुक गये–उनकी विमर्श–पदावली में इससे आगे सार्थक कुछ कहना दूभर था। पते की बात यह मानी जाती है कि उन्होंने महाभारत को 'काव्य' की श्रेणी में रखा तो सही, जो कि औरों ने नहीं किया था। पर संकेत, मैं समझता हूं, यही बनता है कि काव्य को रस से ही तोलें तो रस की श्रेणी ही काव्य के विस्तार के लिये छोटी है–महत् रचनायें उसमें समाती ही नहीं। जहां तक निर्वेद की बात है, महाभारत में या किसी भी जगत् और मनुष्य का तल–ग्राही भावन करती दृष्टि में निर्वेद का कोई न कोई रूप देखा जा सकता है। यहां तक कहा जा सकता है कि मनुष्य और संसार को गहराई से देखना निर्वेद की ओर ही ले जाता है–ऐसा कहा भी गया है। पर गहरी, विराट् रचनायें अपनी अपनी तरह से जटिल होती हैं–रस–धारणा के घेर में नहीं समातीं। इन ग्रंथों में उतरते हुए इनकी व्यापकता का बोध भी स्पंदित रहता है।

हमने भावन को समझने के लिये उसे विचार से व्यावृत्त करने का रास्ता लिया है। पर दोनों का संबंध भी बनता है। विचार को हम अपने भीतर भाव की धरती पर ही पाते हैं। विचार का भाव से स्वातन्त्र्य साधना पड़ता है। पर विचार का भाव–संबंध कई तरह से कई आयामों में बनता है और इसे भाव को विचार के लिये भ्रांत–करता आवरण ही कहें–यह उचित नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दीखता। सार्थक विचार के मर्म में जो विश्व–दृष्टि होती है वह जीवन–दृष्टि समोए रहती है, जिसका मनुष्य के सिद्ध–साध्य स्वरूप से, उसके कर्म से, उसके भावन से नाड़ी का संबंध बनता है। ऐसा हमें लग सकता है कि आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुख अपने–पर–प्रकट पारदर्शिता या निर्मलता विचार में ही जागती है, उससे बाहर नहीं। कई विचारक ऐसा सोचने लगते ही हैं। पर भावन भी अपनी प्रत्यङ्मुखता में पारदर्शिता की ओर ही बढ़ता है और आत्मचेतना के समग्र के साथ बढ़ता है।

नाटक, कथा, उपन्यास...... में यह स्थिति भावन के भीतर बनती देखी जा सकती है। विचार वहां अपने अलग व्योम में नहीं खड़ा रहता। ऐसा हो तो कथा ही नहीं बनेगी। विचार की तरह कथा अपने स्वरूप–स्वभाव से ही हमारे प्रवृत्ति–समग्र पर व्यापक होती है जहां विचार करना हमारे मनुष्य–भाव का अभिन्न अंग है। पर भावन की कथा–दृष्टि में विचार का चरित–चरित्र से, कर्म–परिवेश से निविड़ संबंध होता है–विचार वहां इससे स्वतन्त्र नहीं होता; होने लगे तो कथा पर हावी हो कर उसे क्षीण कर देता है। हां, विचार का भावन से संबंध गहरा, उथला, कई स्तरों पर बन सकता है–जैसे विचार का भाव से संबंध। यह महाभारत की कथा का बड़प्पन है कि गीता उसका अंग बन पाई है, उसके अपने–आप–में–भी–अभिभूत–करते विचार–योग को कथा समुचित भाव–परिवेश का क्षितिज दे पाई है। यह भी देखिये कि विचार भी वहां किसी तंत्र या सिद्धांत विशेष को रूप देने की ओर उन्मुख नहीं है–एक ऐसी दृष्टि से प्रेरित है जिसे विचार–दृष्टि या कर्म–दृष्टि ही नहीं, भावन–दृष्टि भी कह सकते हैं–चाहे ऐसा कहने का चलन न हो। चलन इसलिये नहीं है क्योंकि भाव–चित्त को हम किसी गहरी या व्यापक जीवन या विश्व दृष्टि के बाहर ही रखना चाहते हैं। पर तब बुद्ध की करुणा को क्या कहियेगा? बुद्ध को उनकी सब–कुछ–त्यागती, जगत् को, जगत् पर विचार की दृष्टियों को नकारती साधना जिस निर्वाण तक ले जाती है, उसी भूमि पर उनमें एक सर्वथा उदात्त, व्यक्ति–संबंध की सीमा से सर्वथा मुक्त महाकरुणा जागती है जो उन्हें परम भिषक् बना कर संसार की ओर मोड़ लाई थी। यहां हम भावन को चित्त के उत्तुंगतर धरातल पर देख पाते हैं। यों भी आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता में कर्म और विचार को ही स्वातन्त्र्य का नया आयाम और क्षितिज नहीं मिलता, भाव को भी मिलता ही है–अन्यथा करुणा, मैत्री, उपेक्षा, मुदिता, परदुःख–दुःखिता, संवेदना, सहृदयता..... ये संभव ही नहीं हो पाते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्ध की महाकरुणा हममें न जागे, उसे हम समझ तो सकते ही हैं–और भावन से ही उसे समझते हैं, जितना भी समझते हैं। इससे भावन भी विचार की तरह हमारे स्वभाव में सिद्ध होने के साथ ही साध्य–रूप में भी आगे आता है। पुराने लोग कहते थे–और हम जानते ही हैं–कि काव्य की सहृदयता–या संवेदना कहिये–यह हममें पाक चाहती रहती है, अगाध होना चाहती है।

पर विचार की तरह ही भावन के ऐसे भी आयाम हैं उसे अपना विशुद्ध रूप साधते देखा जा सकता है। हमने नाटक, उपन्यास जैसी कलाओं को लिया। ये भाषा में बद्ध होती हैं, तभी विचार और संकल्प को सहज समो लेती हैं। पर व्यंजना की संभावना भाषा–सीमित नहीं है और यों भावन का शब्द–बाहर भी ऐसा विस्तार बनता है जहां भावन को 'स्वप्रतिष्ठ' देखा जा सकता है।

कलाकृतियों के कई माध्यम होते हैं–शब्द तो एक ही माध्यम है। दूसरे माध्यम शब्द से ही नहीं, परस्पर भी बिल्कुल भिन्न होते हैं–चित्र में वर्ण–रेखा, संगीत में स्वर–छंद–ताल, भास्कर्य में आकृति–घनत्व, वास्तु में देश का रूपायण, नृत्त में अंग–संचार.....। इन माध्यमों में जो बात सामान्य है वह है भाव को व्यंजित कर पाने की शक्ति। हम पाते हैं कि विचार शब्दों में ही होता है, पर भावन शब्द का मोहताज नहीं।

इससे कुछ विशिष्ट प्रश्न भी उठते हैं। ऐसे भावन में क्या भाव व्यंजित होता है? इस प्रश्न को तो हम सामने ही खड़ा पाते हैं, क्योंकि भाव की पहचान को हम शब्द के साथ जोड़ने के आदी हैं। ऊपर हमने देखा कि कथा, नाटक, उपन्यास.... में व्यंजित भाव की भी एक पहचान बनती है, क्योंकि आलंबन पहचान का जगत् और उसमें हमारा व्यवहार होता है। यह जगत् शब्द–विद्ध होता है–भाषा से अविनाभूत। भाषा–जन्य व्यंजना में भी इसकी उपस्थिति बनी रहती है– हालांकि अभिधा और व्यंजना के भाषा–प्रयोग में भेद है, जैसा कि हमने ऊपर देखा।

शब्द में वाच्य–वाचक भाव होता है–शब्द का ध्वनि (या लिपि) रूप और उसका अर्थ। यह दोनों अविनाभावेन 'सहित' होते हुए भी स्पष्ट व्यवच्छेद्य होते हैं–उसी अर्थ को दूसरी भाषा के–या उसी भाषा के–दूसरे, अन्य–ध्वनि–में–बसे शब्द संकेतित कर सकते हैं। शब्दों के संकेत का क्षेत्र बहुत विपुल–विस्तृत है। बाहर देश–काल में दिखती वस्तुएं ही नहीं, विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अ–देश–काल में रहते प्रत्यय भी शब्द द्वारा संकेतित या अभिहित होते हैं। वाचक ध्वनि–समूह और वाच्य अर्थ का यह भेद भाषा का स्वरूप ही है–चाहे ध्वनियों की जगह लिपि आ जाये। भाषा जब व्यंजना का माध्यम होती है तो अपने शब्द–अर्थ के वाच्य–वाचक द्वैध–रूप को रखते हुए ही व्यंजना का आधार बनती है। हालांकि व्यंजना में यह द्वैध एक विचित्र रूप से एकीभाव की ओर मुड़ता देखा जाता है–तभी शब्द बदलने से व्यंजना बदल जाती है। व्यंजना तब बनती है जब शब्दों का साधारण, चलता हुआ संकेत अपने परे भाव जगा देता है जो भावन की प्रत्यङ्मुख दृष्टि के विमर्श के लिये अर्थमय होता है। पर इस भाव में अभिधा की तरह वाच्य–वाचक–भाव नहीं होता। भाव ही अर्थ रूप में जागता है। भावन उसका विमर्श करता है जो भावन की आँख से ही होता हैं। भाषा में नहीं होता। अभिधा की तरह व्यंजना भी भाषा के स्वरूप में ही निहित है। यही आनंदवर्धन ने दिखाया था। हमारा साधारण जगत्–बोध भाषा द्वारा अभिहित होता है–व्यंजना का शब्द–प्रयोग उसे असंगत,अंतविरुद्ध भी लग सकता है। आनंदवर्धन का प्रसिद्ध उदाहरण है: गंगायां घोष : यहां हिन्दी में इसे सीधे सीधे 'गंगा में गाँव' कह दिया जा सकता है, पर फिर व्यंजना ही नहीं बनेगी; 'गंगा पर गाँव' कहना अधिक उचित लगता है। ऐसे विशिष्ट शब्द–बंधों का हम प्रयोग करते ही रहते हैं। लक्ष्य भाव को अर्थ–रूप में भावन के अपने बोध और विमर्श को व्यंजित करना होता है। साधारण अर्थ–बोध के लिये गंगायां घोषः जैसे प्रयोग असंगत ठहरते हैं। इन्हें हम सार्थक इसलिये पाते हैं क्योंकि इनकी प्रतीत–होती असंगति में सहज ही एक दूसरा इंगित पलता है जिसकी हम अनायास प्रतीति कर पाते हैं। गंगा पर गाँव नहीं होता, लेकिन यों कहने से गाँव की शीतलता और पवित्रता सीधे, बिन–कहे भाव की आँखों में झलक आती है। बात को हम अभिधा में सहज ही कह सकते हैं: 'गाँव शीतल है, पवित्र है, खुला–खुला है'–या ऐसा ही कोई विवरण दे सकते हैं। पर हम फिर भी जानते रहते हैं कि यों कह कर अभिहित कर देने से वह बात नहीं बनती जो व्यंजित होती है। 'गंगा किनारे गाँव' कहने पर भी गाँव का शीतल–पवित्र होना आक्षिप्त हो सकता है, पर यह बुद्धि में जागते विचारों के साधारण जगत्–बोध में निहित सहचार से उभरता है, भावन के लिये भाव–रूपी अर्थ बन कर नहीं प्रस्तुत होता–यानी व्यंजित नहीं होता। व्यंजना का गंगायां घोषः जैसा उदाहरण यही दिखाता है कि व्यंजना भाषा में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप–स्वभाव से ही अंतर्निहित है। पर यही भावन के और गहरे, विमर्श–जगाते कथनों का–काव्य का–आलंबन बनता है। कथन के बड़े स्फुट अंतर्विरोध का एक और दृष्टांत लीजिये जहां भावन के स्वतंत्र विमर्श–लोक का पूरा द्वार खुला दिखता है : हम वहां हैं जहां से हमको भी/कुछ हमारी ख़बर नहीं आती। गंगायां घोष : में जो व्यंजना जागती है, बड़ी मामूली सी है; उसका विवेचन सहज ही 'शीतल–पवित्र' जैसे शब्दों में किया जा सकता है–लगता है कि बात लगभग पूरी अभिधा की पकड़ में लाई जा सकती है; तभी ऐसे प्रयोग रूढ़ भी हो जाते हैं, जहां व्यजना शेष रहती ही नहीं (जैसे,'वह बड़ा गधा है' में)। पर ग़ालिब का शेर ऐसे किसी विवेचन में नहीं समा सकता जो बात को अभिहित कर दे। कितना भी–या कितने भी–विस्तृत और पैने विवेचन कीजिये, भावन में व्यंजित अर्थ उससे बाहर, उससे अलग खड़ा, अपनी सत्ता में स्वतंत्र जागता दिखता है। व्यंजना के लिये कोई ऐसा नियम भी नहीं कि वह तभी जागे जब अभिहित अर्थ में साधारण जगत्–बोध से असंगति या अंतर्विरोध बनता हो। कहानियों, नाटकों में हमारा जगत्–बोध जागता ही रहता है, व्यंजना उसी को आधार बनाती है। बल्कि कल्पना की असंगत बेलगाम उड़ान भरती कहानियां हलकी, उथले चमत्कार को खुजाने की चेष्टा करती ही लगती हैं।

शब्द–प्रयोग में व्यंजना वाच्य की अभिधा को वाच्य रखते हुए–या नहीं रखते हुए–उसके भीतर से ही उसके परे जागती है, और भावन का आलंबन बनती है। पर व्यंजना का आलंबन वाच्य ही नहीं होता, उसके भाषा के सिवा दूसरे कई और आलंबन भी होते हैं–जहां अभिधा का अवकाश ही नहीं बनता–और न साधारण जगत्–बोध का। तभी इन्हें हम कलाओं के शुद्ध या अमूर्त रूप कहते हैं। संगीत, नृत्त, चित्र, भास्कर्य, वास्तु.....ये अभिव्यक्ति के भाषा–भिन्न ऐसे रूप हैं जहां वाचक और वाच्य जैसा कोई द्वैधी–भाव ही नहीं होता। वर्ण–रेखा, स्वर–लय–छंद, अंग–संचार, आकृति–घनत्व....ये अपने आप में व्यंजना के आलंबन होते हैं। जैसे भाषा–व्यंजित अर्थ शब्द–वाक्य विशेष को आलंबन बनाता है, वैसे ही यहां व्यंजना वर्ण–रेखाओं के भिन्न विन्यास और योजना को आधार बनाते हैं।

यहां अभिधा से स्वातन्त्र्य सहज देखा जा सकता है। हां, रेखा–वर्ण आदि का अभिधा–तुल्य प्रयोग भी होता है। चित्र, भास्कर्य जैसे माध्यम अपने से परे बाह्य–जगत् की ओर संकेत करने के उद्देश्य से भी बनाये जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ये किसी की या किसी कुछ की प्रतिकृति (या अनुकृति) होते हैं अक्सर। या प्रतिकृति न भी हों तो भी संकेत का काम कर सकते हैं, जैसे नक्शे। किसी की पहचान के लिये बनी उसकी शबीह, अपराधियों के पकड़ने के लिये बनी उनकी आनुमानिक अनुकृति.... ये संकेत मात्र के ही काम के होते हैं। पर तब हम इन्हें कलाकृति की श्रेणी में ही नहीं रखते। ऐसा तभी होता जब ये भावन का आलंबन बनें। किसी की शबीह, या किसी परिवेश की प्रतिकृति, ये चित्र भी हो सकते हैं : तब इनका स्वरूप वैसा ही होता है जैसे कथा में कोई व्यक्ति चरित्र का रूप ले ले या कोई स्थान एक भाव–परिवेश का। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि चित्र, मूर्ति आदि को सूचना, पहचान आदि का माध्यम बनाना भाषा–बोध को ऊह्य ही नहीं रखता उससे संश्लिष्ट होता है।

हमारा जगत्–बोध मूलतः भाषा के माध्यम से होता है, शब्द–प्रयोग से अविनाभूत होता है, उसे पूर्वगृहीत रखता है। हमारे जगत्–बोध और शब्द–प्रयोग के – भाषा–बोध के – बीच एक ऐसा अन्योन्य–आश्रय है, जहां एक को दूसरे से अलग करना संभव नहीं। विचार इस बोध का द्रष्टा हो कर इससे ऊपर उठ सकता है, पर यह द्रष्टा–भाव भी भाषा का आश्रय लेता है, और आयास–सिद्ध ही नहीं होता, साधारण जगत् बोध को फिर भी ऊह्य रखता है। विचार के द्रष्टा–भाव में भाषा का जगत् से संबंध क्या, यह प्रश्न भी जागता है और गुत्थियां खड़ी करता है। पर इस प्रश्न का यहां प्रयोजन नहीं। इतना स्पष्ट है कि हमारा जगत्–बोध नाम–रूपमय होता है और हमारा साधरण व्यवहार इसे ऊह्य रख कर – मानकर – बनता है। भाषा–निष्ठ अभिधा में ही नहीं भाषा को आलंबन–बनाती व्यंजना में भी यह जगत्–बोध ऊह्य रहा दिख सकता है। भय जैसे भावों से हमारा परिचय– और उन भावों का नामकरण – हमारे व्यवहार के जगत्–बोध के भीतर से ही बनता है। भाषा जब व्यंजना का आधार बनती है तब भी वह – अध्यवसाय–मुक्त होते हुए भी – जगत्–बोध को अपने में समोये रखती है। तभी हम कथा, नाटक आदि से निष्पन्न भय के भावन को "भयानक" का नाम देते हैं। भय ही नहीं, रति, उत्साह, जुगुप्सा... और दूसरे पहचान के भावों का बोध भी हमें अपने व्यवहार–जगत् – और यों भाषा – के माध्यम से ही होता है। हमें यहां तक लग सकता है कि इस संबंध के बिना व्यंजना बन ही नहीं सकती। कथा, नाटक, उपन्यास के भावन में ऐसा बोध होता ही है। चित्र, मूर्ति... में भी होता है, जहां इन कृतियों के रूप प्रतिकृतिवत् होते हैं। पर इस बोध की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्पष्टता भावन के अपने विमर्श से कहीं अधिक उसकी अध्यवसाय–निष्ठ विवेचना में होती है जो भावन के साथ साथ चलती है; भाषा में होती है। लेकिन भावन में जागती भाव–गति की बुनावट जिस बोध में बसती है वह भाषा से परे होती है – उसका विमर्श भाव के भीतर से ही भाव को देखता–तोलता है। यह बात तब और स्फुट हो कर उभरती है जब कला का ऐसा माध्यम हो जहां भाषा की पहचान का बाह्य–जगत् ऊह्य ही न हो : जैसे राग–संगीत, नृत्त... और ऐसे दूसरे रूप जो भाषा–परिचित जगत् से अलग ही खड़े दिखते हैं। ऐसे माध्यमों से व्यंजित भावों का एक पूरा विस्तार होता है, जिसके अपने गहरे–उथले, सरल, जटिल गुँथाव और व्यूह बनते हैं। पर इनका नामकरण ही नहीं, इन्हें भाषा में उतारना ही विवेचना के लिये पहेली बन जा सकता है। इनकी विवेचना करते हुए हम इनकी समझ बनाते हैं तो भाषा के रूपक–उत्प्रेक्षा जैसे मार्गों की ओर अपने को बढ़ता पाते हैं जो व्यंजना का ही सहारा लेते हैं। तभी अमूर्त–कहलाती कला दुरूह लगने लगती है। हम कह बैठते हैं कि कला समझ में नहीं आई। पर ऐसी कलाओं में भावन के अपने विमर्श की ओर भी हम बढ़ते ही हैं–अच्छें–बुरे का तुच्छ–महत् का विवेक भी करते हैं।

हममें पहचान–की–आँखों–से–दिखते 'मूर्त' के प्रति सहज पक्षपात होता है। पर यह पक्षपात अविचारित ही होता है। भाव तो यों भी दिखता नहीं, इन्द्रिय–गम्य नहीं होता, अमूर्त ही होता है। भाषा के अर्थ भी सामान्य होते हैं, अमूर्त ही होते हैं–उनका इन्द्रिय–बोध के विशेष से संबंध क्या, यह एक चिरंतन टेढ़ा प्रश्न है। भावन में जागता व्यंजित भाव भी अर्थ–रूप होता है, पर उसे हम भाषा के अर्थ की तरह सामान्य नहीं कह सकते, ऐसा होता तो वह भाषा की अभिधा में समा जाता। पर भावित अर्थ 'सामान्य' नहीं होता हुआ भी भावन की जिस प्रत्यङ्मुख दृष्टि में जागता है वह व्यक्ति–निष्ठ नहीं होती, व्यापक होती है, सर्व–गम्य होती हैं कथा–गर्भ कलाकृतियों में भावों को परिचित जगत् और वहां होते अपने व्यवहार से जोड़ पाते हैं तो ये मानो मूर्त लगने लगते हैं–बल्कि कहना यह चाहिये कि इसी को हम 'मूर्त' कहने के आदी हैं। भाषा–निष्ठ कलाकृतियों में हम सहज ही मूर्तता की अपेक्षा रखते हैं (कथा–गर्भ कृतियों में यह अपेक्षा पूरी होती भी लगती है) पर कविता भाषा में ही होती है, वह कथा–गर्भ न हो तो उसमें भी भाव की बाहर के प्रत्यक्ष में बनती पहचान की बात बेबात होती है। ऊपर ग़ालिब के शेर में भाव की पहचान क्या? पहचान का सवाल ही अटपटा लगता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

माध्यमों में इस गहरे भेद का बोध (जिसे आजकल मूर्त–अमूर्त का भेद कहते हैं) हमारे कला–विचार में पुराना है। भरत ने इसकी ओर इंगित किया है (इस बोध के साथ कि विशुद्ध नृत्त में किसी लोक–गत अर्थ की प्रस्तुति नहीं होती–यानी नाटक की तरह उसमें साधारण जगत्–बोध ऊह्य नहीं होता)। आनंधवर्धन और अभिनव ने कलाओं के इस भेद पर विस्तार के साथ विचार किया है। पर ये विचारक व्यंजना को नाटक (और यों कथा, उपन्यास) के बोध से स्वतन्त्र विमर्श में पूरा नहीं उतरे।

आनंदवर्धन पैने कला–विचारक थे, भाषा–भिन्न माध्यमों में स्वतन्त्र व्यंजना–शक्ति मानते थे। पर इस 'मानने' के पीछे आधार नाटक ही था, जिसमें संगीत, नृत्त जैसी भिन्न कलाएं प्रयुक्त होती हैं। वे सजग थे कि संगीत, नृत्त नाटक से अलग भी अपना निरपेक्ष विदग्ध रूप रखते हैं, पर उन्होंने नाटक–रंजित दृष्टि से ही इन कलाओं की व्यंजना को आँका–समझा। आनंदवर्धन के लिये व्यंजित रस ही होता है और रस की व्यंजना नाटक (या नाटक जैसे कथा–निष्ठ) माध्यम से ही हो सकती है। हमारे भय, रति जैसे साधारण अनुभव और व्यवहार में परिचित भाव ही रस में निष्पन्न या उन्नीत होते हैं। और रस की निष्पत्ति ही कला का लक्ष्य है। कला–विचार यह दिशा ले तो संगीत आदि में–जहां लोक की उपस्थिति नहीं होती, वहां भी अगर रस की ही निष्पत्ति माननी हो तो यह मानना होगा कि नाटक के भीतर रह कर ही–नाटक का अंग हो कर ही–इन कलाओं से रस संबंध बनता है। आनंदवर्धन यही मानते थे। आनंदवर्धन पर टीका करते हुए अभिनव भी इस मत के पक्षधर उभरते हैं। पर अभिनव के चिंतन का एक और पक्ष है जो उनकी भरत पर की गई टीका में सामने आता है। वहां नृत्त और संगीत जैसी कलाओं को वे वाच्य–वाचक भाव से–और यों अभिधा से और साधारण जगत्–बोध से–हटा कर 'स्वप्रतिष्ठ' कहते हैं। तात्पर्य यह कि नृत्त, संगीत में व्यंजना सीधे स्वर और अंग–संचार का आश्रय लेती है। वहां लोक की–परिचित 'प्रत्यक्ष' जगत् की–उपस्थिति अपेक्षित ही नहीं होती।

अभिनव ने अपनी बात को नृत्त और संगीत तक ही सीमित रखा है। चित्र, भास्कर्य, वास्तु की बात नहीं की है। कारण यह भी है कि उनके समय चित्र, भास्कर्य में कला के ऐसे रूप नहीं उभरे थे जैसे संगीत में 'गांधर्व' और नृत्त में 'ताण्डव' थे जो स्फुट ही वाच्य–वाचक–भाव या अभिधा से विहीन थे। वास्तु बहुत पुरानी कला है। उस पर अभिनव के समय एक विस्तृत शास्त्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भी था। वास्तु का कला–पक्ष संगीत, नृत्त की तरह ही स्वरूप से स्वप्रतिष्ठ होता है–पर उसके कला–पक्ष की ओर चिंतन में ध्यान नहीं था–उसके शास्त्र प्रयोग–पक्ष पर ही केंद्रित थे। पर कहना न होगा कि हम स्वप्रतिष्ठ की धारणा में सचमुच उतरने लगें तो चित्र, भास्कर्य जैसी कलाओं में इसकी संभावना साक्षात् खुलने लगती है।

पर हमारे लिये सवप्रतिष्ठ या अमूर्त की बात भावन के और भी बड़े प्रसार का संकेत है जो कला तक सीमित नहीं। हम अपनी संवेदना में झाँक कर देखें तो पाते हैं कि व्यंजना–और यों भावन–कला तक सीमित नहीं है। आकृतियों में, रूपों में अपने आप में व्यंजना की शक्ति होती। कालिदास का प्रसिद्ध श्लोक लीजियेः *रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोपि जन्तुः। तच्चेतसा स्मरति नूनमाबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।* यहां हमारा इन्द्रिय–निष्ठ जगत्–बोध ही भावन की अनहोनी का द्वार खोलना दिखता है। दुष्यन्त ने यह श्लोक एक गीत सुनते हुए कहा था और इसमें नाटक की कथा से जुड़ी ध्वनि भी समाविष्ट है (दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त शकुन्तला को बिल्कुल भूल गये थे; शकुन्तला अब उनके मन के दूर अंतराल में छुपी एक अनजान, अनपहचान पर मीठा–सा आभास रह गई थी–जैसी अंतर में निस्तब्ध किसी जन्मांतर की अनदिखती कौंध हो)। पर इसके अर्थ का संकेत स्पष्ट ही कथा–संदर्भ को पीछे छोड़ देता है, उस संदर्भ से कहीं व्यापक है–और इसे यों समझा भी गया है–कि वाच्य–वाचक–हीन आकृतियों और ध्वनियों के संकेत हमें हममें ही गुहा–निहित किसी ऐसे भावलोक में ले जा सकते हैं जो हमारे जाने–पहचाने हुए जगत् से अलग निगूढ़ रहता है।

प्रकृति को लीजिये। वहां रम्य के वीक्षण से और मधुर के श्रवण से हममें भाव जागता है–चाहे सदा 'पर्युत्सुकी' न करता हो। पर कर भी सकता है। अपनी आभा और सुषमा में जागता फूल 'रम्य' तो होता ही है–और रम्य होने का इतना तो अर्थ है ही कि वह हममें आवेग या कामना के उद्दीपन से अधिक कुछ जगाता है। आभा और सुषमा रति के उद्दीपन भी हो ही सकते हैं, जैसे पशुओं में–और हममें भी। बहुत सा साज–श्रृंगार, कहना न होगा, यही उद्देश्य रखता है। पर रम्यता और माधुर्य का बोध ऐसे उद्दीपन तक सीमित नहीं होता। सहज ही हमारी जीव–सुलभ भूख और अहं–भाव के देह–मन–सीमित और हमें–अपने–वश–रखते आवेगों से ऊपर उठता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फूल की उज्ज्वल, वर्ण–सजग आभा, उसकी आकृति का संतुलित, समंजस, सुकुमार रूप–वर्ण–साम्य उपादेयता–बोध से ऊपर उठ कर हमारे भाव की आँखों में कला–कृति की तरह ही जागता है (यहां यह न भूलना चाहिये कि बहुत सी 'कला' कहलाने वाली कृतियां भी उद्दीपन तक सीमित कहने का काई अर्थ नहीं)। हां, यह कहना ठीक ही होगा कि सौंदर्य–बोध में स्तर–भेद होते हैं। फूल का सौंदर्य अपने आप में स्वतन्त्र अर्थ रखते हुए भी भावन को किसी गहराई में न उतारता हुआ बड़े उथले–से स्तर पर रह सकता है : रंग–रूप से चमत्कृत इंद्रियों के विस्मय तक। पर यह स्तर भी आत्मचेतन भावन में जागता है जहां इसके आरोह के सोपान भी उभरते हैं। कालिदास का उस ओर इशारा साफ़ है : इसके बिना रम्य और मधुर का अनुभव किसी तरह की अंतरंग पर्युत्सकता की ओर नहीं ले जा सकता। फूल के भावन की प्रत्यङ्मुख अंतरंगता के कारण ही फूल एक आकृति–मात्र की सीमा से निकल कर किसी गहरे रूपक की व्यंजना में खिल उठ सकता है। एक पुराना रूपक देखिये : सृष्टि के आरंभ की कल्पना ही विष्णु की नाभि से प्रस्फुटित कमल से होती है, जिस पर बैठ कर सृष्टिकर्ता ब्रह्म विश्व की रचना करते हैं। कमल का समंजस सर्वतोभद्र रूप यहां स्पष्ट ही सृष्टि के ऋत में स्थापित होने का रूपक है। ऐसे रूपक की उभ्दावना भावन की धरती पर ही उभरती है।

पर फूल ही नहीं प्रकृति के पूरे परिसर भी भावन के आलंबन बनते हैं। मरुस्थल का सूखा विस्तार, हरे–भरे जंगलों का घटाटोप, पहाड़ों की चट्टानी चोटियां या तुहिन–ढके शिखर..... ये संगीत की भिन्न स्वर–योजनाओं की तरह भावन के लिये भिन्न आवहों की व्यंजना जगाते हैं। सूर्य के गति–चक्र के साथ बदलते आकाश के रंगों का आवह इन भेदों को और भिन्न करता चलता है। स्पष्ट ही, आकाश के बदलते रूप अपने आप में भी व्यंजक होते ही हैं। यह व्यंजना फिर कला में अपनी तरह के नये विस्तार बनाती है। प्रकृति का 'वही' परिसर भिन्न चित्रों में, भिन्न चित्रकारों की भिन्न शैलियों में जागता हुआ व्यंजना के नये प्रसार, नई गतियां ले सकता है, नई गहराइयों में उतर सकता है। चीन के महत् प्रकृति–चित्रों में प्रकृति का विराट् भाव अध्यात्म के संकेत वहन करता है–मानव वहां प्रकृति के बृहत् के भीतर क्षुद्र सा प्रकृति–विलीन हो सकता है। पर मनुष्य की उपस्थिति प्रकृति को भावन की एक और ही दिशा में ले जा सकती है। प्रकृति मनुष्य–जीवन के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भिन्न भावों की व्यंजना–संगिनी बन कर मनुष्य का परिसर बन जा सकती है। भारत की कविता में ही नहीं, चित्रों में भी ऐसी व्यंजना उभारी ही जाती थी। पर मनुष्य का अपना विराट् परिसर है, जो हमारे भावन को विपुल विस्तार और अतल अगाध की ओर ले जाता है। व्यक्ति से लेकर पूरा मनुष्य–भाव–मनुष्य के अर्थ–बोध के बहुस्तरीय आयाम, कई धरातलों पर सताती यातनाएं, निरर्थकताएं, इसकी अंतर्दृष्टि–इनमें होते हुए इनसे तादात्म्य, इनका जीवंत अनुभूत बोध, ये भावन में ही उभरते हैं। यह भावन फिर कलाभिव्यक्ति से लेकर बुद्ध की महाकरुणा तक व्याप्त देखा जा सकता है।

साधारण तौर पर हम मनुष्य को प्रकृति से अलग रखते हैं। उसे प्रकृति–भुक् नहीं करते–मनुष्य में यह बोध चिरंतन सा है कि स्वतन्त्र है, अपने स्वतन्त्र अर्थों की सृष्टि करता है, अन्य जीवों की तरह प्रकृति के कार्य–कारण प्रवाह के (पूरा) परतन्त्र नहीं है। मनुष्य की आत्मचेतना ही उसे अपना द्रष्टा–नियोक्ता बनाते हुए उसे प्रकृति से भी अलग करती है। पर हमारा बोध प्रत्यङ्मुख होता हुआ ब्रह्माण्ड–ग्राही भी होना चाहता है। सबकुछ को अपने अर्थ–बोध में समेट लेना चाहता है। ऐसी दृष्टि दर्शन के मूल में देखी जा सकती है। दर्शन की ही समकक्ष अध्यात्म–प्रज्ञा में भी जागती है। इसमें होने के साथ होने के अर्थ का आदर्श–बोध भी समोया रहता है–मनुष्य का वह स्वरूप होता हुआ भी प्राप्य होता है। ऐसी दृष्टि में विचार के साथ भावन को एकात्म देखा जा सकता है। ईशावास्य उपनिषद् का पहला ही श्लोक लीजिये।

ईशावास्यम् इदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्वित् धनम्।।

श्लोक बहु–परिचित है, पर एक अनुवाद फिर भी देता हूं: 'ईश द्वारा आवास्य है यह सब कुछ जो कुछ भी गति–प्रवाह में जगत् है; उसका त्याग से भोग करो, किसी के धन के लोलुप न हो'। यह बोध कि यह भंगुर, निरंतर बदलते प्रवाह में बसता जगत् ईश्वर का घर है–इसकी काव्य की तरह (ग़ालिब के शेर की तरह) विरुद्ध–सी–लगती दृष्टि स्पष्ट ही भावन–गर्भ है। एक सम्पूर्णतम अवयवी का सब–कुछ–घेरता बोध है जिसे विचार की किसी युक्ति–यात्रा का फल नहीं कहा जा सकता। एक विचार–भिन्न सम्पूर्ण–ग्राही प्रज्ञा या प्रातिभ या अध्यात्म दृष्टि की बात यहां की जाती है पर ऐसी दृष्टि में संपूर्ण का–यहां सारे 'होने' के ही अर्थ का ग्रहण व्यंजित ही कहला सकता है–एक सर्वतो–व्यापक भावन में बसता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहां दृष्टि में वही व्यापकता है जो बुद्ध की महाकरुणा में—उसी तरह वह वासना (लोलुपता) को त्याज्य पाती है। पर भेद भी है। यह त्याग के साथ भोग की बात भी करती है—एक अद्‌भुत अंतर्विरोध के साथ—ऐसा भोग जो त्याग से ही संभव है। चेतना की प्रवृत्ति के सार्थक हो पाने का ही नहीं, चेतना के स्वरूप का ही यहां एक गहरा (और अनहोना—लगता) सूत्र देखा जा सकता है : निवृत्ति—में—अपनी—ओर—उन्मुख—चेतना ही प्रवृत्ति का भी अर्थ पा सकती है। पर फिर एक बात पर और ध्यान दीजिये। ऊपर के श्लोक के अंत में एक आदेश है—किसी के धन की कामना न करो। इसे व्यवहार—धर्म का या धर्म—नीति का एक साधारण नियम कहा जा सकता है। और फिर प्रश्न उठाया जा सकता है कि त्याग—गर्भ भोग से और जगत् के ईश का घर होने से इस 'नैतिक' नियम का क्या युक्ति—संबंध? श्लोक के पूर्व—भाग में जो कहा गया है उससे यह नियम कैसे उपपन्न होता है? युक्ति ही ढूँढे तो, मैं समझता हूं, ढूँढी भी जा सकती है—चेतना की उस आत्म—निवृत्ति में ही, जिसकी अभी बात की, जो प्रवृत्ति को सार्थक बनाती है। नैतिकता का या धर्म—बोध क़ा होना मनुष्य में अनन्य ही नहीं, अद्‌भुत रहस्य की तरह अनहोना है; पर यह आत्मचेतना के साथ ही उभरता है, और आत्मचेतना भी मनुष्य में अनन्य है। चेतना का आत्मचेतन होना आत्मनिवृत्ति में निहित है—चेतना अपने अपने से हट कर, अपने से निवृत्त हो कर ही अपने को देख पाती है—प्रवृत्ति के पराङ्मुख भाव से अपनी ओर मुड़ कर प्रत्यङ्मुख होती है। इसके साथ ही अपनी प्रवृत्ति में दोष देखती है, उसका अन्यथा—करण चाहती है—प्रदत्त प्रवृत्ति को अपने अर्थ के अनुरूप नहीं पाती। हिंसा और स्वार्थ से विचलित हो अहिंसा और निःस्वार्थता की ओर झुकती है। यही धर्म—बोध का बीज है। व्यवहार में यह विधि—निषेध के नियमों का रूप लेता है। उपनिषद् की ओर ध्यान दीजिये तो नियम का अर्थमय होना एक सम्पूर्ण प्रत्यङ्मुख प्रवृत्ति और दृष्टि का अंग है और उस सम्पूर्ण दृष्टि के साथ सहज ही प्रसूत होता है। जैसे बुद्ध की दृष्टि में शील। युक्ति की मांग यहां अकसर इस प्रश्न में बसती है कि ऐसा करने से हमें क्या लाभ? पर यह दृष्टि साफ़ ही लाभ (स्वार्थ) से हट कर ही बन रही है। तभी यह सबका—स्वार्थ—साधते जैसे किसी समझौते जैसी युक्ति से अछूती है।

पर हमारी चर्चा के लिये मूल बात यहां इस दृष्टि में भावन का होना है—दृष्टि का जगत्—बोध, मनुष्य—बोध यहां सम्पूर्ण के ऐसे साक्षात् अर्थ—ग्रहण में बसता है जिसे व्यंजित कहना उचित है। भावन के विमर्श में यहां एक अगाध अर्थ सहज ही भावित है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैं समझता हूं कि यहां धर्म–बोध में भावन की गहरी भूमिका का परिचय मिलता है। केवल विचार और युक्ति–तर्क से धर्म–बोध को नहीं समझा जा सकता। समझने की एक दिशा संकल्प–बोध की स्वतन्त्रता में ली जाती है–धर्म को विशुद्ध कर्त्तव्य–बोध से जोड़ा जाता है। कांट में यह स्पष्ट है। कांट के लिये विशुद्ध संकल्प या कर्त्तव्य–बोध उस स्वातन्त्र्य में बसता है जो हमारा परमार्थ है। आवेग और भाव हमें परतन्त्र रखते हैं–ये व्यवहार जगत् के असत् प्रपंच के अंग हैं जिससे ऊपर उठ कर ही संकल्प शुद्ध–स्वतन्त्र होता है। उसका स्वातन्त्र्य अपने अलग नियमों में अभिव्यक्त होता है जहां भाव का कोई स्थान नहीं–ये नियम ही सत्–प्रवृत्ति के आधार हैं। गीता की निःसंग कर्म की धारणा में भी विचार की यह दिशा उभरती देखी जा सकती है, पर स्वातन्त्र्य की धारणा वहां व्यापक है, मनुष्य–व्यक्ति–सीमित नहीं जैसा कि कांट में दीखता है। वहां स्वातन्त्र्य चित् या परमेश्वर का है जो मनुष्य–व्यक्ति में रूप लेता है और व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की सार्थकता उस परम के प्रति समर्पण में है।

हममें स्वातन्त्र्य–बोध आत्मचेतना के अपने ही को विषय बना कर देखने और नियोजित कर सकने के सामर्थ्य के साथ जागता है। इस स्वातन्त्र्य–बोध में हमारे दृश्य आत्म का–या दृश्य 'स्व' कहिये–उसका परतन्त्र होना भी दिखता है। हम शरीर की मांगों में, मन.के आवेगों में, अपने को परतन्त्र पाने लगते हैं। तभी स्वातन्त्र्य के लिये उनके त्याग या अवरोध की बात की जाती है। पर भाव का अगर अपना द्रष्टा–भाव है, जैसा कि ऊपर की चर्चा में उभारने की चेष्टा की गई है, तो भाव–चित्त को नितांत परतन्त्र मानने का कारण नहीं बनता। भावन में वह भाव का द्रष्टा हो पाता है, तो नियोक्ता भी होता है। व्यंजित भाव का आलंबन हमारे बाहर ही नहीं, हमारे भीतर भी होता है। हमारे अपने भीतर उदित होते भाव भी भावन के आलंबन बनते हैं। उसी तरह जैसे विचार विचार का विषय बनता है–और साध्य–परिष्कार्य होता है, आत्मद्रष्टृत्व के विशुद्ध नैर्मल्य की ओर बढ़ना चाहता है। हां यह कह सकते हैं कि विचार में द्रष्टृत्व के साथ स्वातन्त्र्य का एक सहज बोध जागता है जिसे हम भाव में नहीं पाते। यों भाव को हम द्रष्टृ–चित्त की आविलता के साथ ही जोड़ते हैं। पर भूलना नहीं चाहिये कि भावन भी हम हमें सहज है–वह भी उसी आत्मचेतना के साथ जागता है जो विचार के स्वातन्त्र्य को घर देती है। पर उसकी प्रक्रिया भिन्न होती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है–व्यंजना की गति व्याक्रिया से उलटी, समग्र–ग्राही है इसलिये हम उसे सहज ही स्फुट नहीं पाते; फिर भाव आत्मद्रष्टा हो कर भी भाव–लीन रहता है, इसलिये उसके द्रष्टृत्व को विवेचना–यों विचार–का सहारा मानो सदा–अपेक्षित रहता है।

संकल्प या कर्त्तव्य–निर्णय हम जीवन में बनती परिस्थियों में करते हैं। संकल्प से यह अपेक्षा रहती है कि वह मेरी या किसी की इच्छा की या व्यक्तिगत मनोभाव की बात न हो। जो अपने आप में उचित है वह मेरे, या किसी के, 'अच्छा लगने' की बात नहीं हो सकती है। हम उसके स्वतन्त्र सत्य को पाना चाहते हैं–जैसे विचार में विषय के सत्य को। तभी हम औचित्य–बोध में विचार जैसी निःसंगता के लिये मनोभावों से या भाव–चित्त से निर्लिप्त हो जाना चाहते हैं। हमें लगता है कि हम भाव–ग्रस्त हों तो औचित्य–दृष्टि अंधी–दूषित ही रहती है। गीता के आंरभ में कृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं। पर कृष्ण के लिये युद्ध का परिणाम विभीषिका में डूबा नहीं था, जैसा अर्जुन के लिये सहसा बन खड़ा हुआ था–अर्जुन का विषण्ण भावावेश उस विभीषिका–दृष्टि का फल था। पर वह दृष्टि भी परिस्थिति से व्यंजित हो भावन में ही जागी थी। कृष्ण ईश्वर थे। उनकी दृष्टि जीवन–मृत्यु से ऊपर–उठी दृष्टि थी–जगत् और जीव के नित्य सत्य को देखती दृष्टि। उनके लिये जो हो रहा था, माया थी। परिस्थिति से मोहित होना मिथ्या भाव–प्रपंच में पड़ना ही हो सकता था। पर गीता में विचार के कई पक्ष हैं–हम यह भी कह सकते हैं कि कृष्ण की सब–कुछ देखती परमार्थ दृष्टि में वह युद्ध एक छोटी सी, पर अनिवार्य घटना थी, ईश्वर की दिव्य योजना का अंग। पर अर्जुन की आँखों में युद्ध का सामने दिखता विकराल परिणाम था। अब तक इस दृष्टि से उन्होंने युद्ध को नहीं देखा था–बरसों से उसकी ओर तत्पर ही रहे थे। पर अब यह परिणाम–बोध उनके मन पर हावी था–जिन साध्यों के लिये योद्धा को लड़ना चाहिये, वे ही विनाश के कगार पर थे। क्या ऐसे परिणाम–बोध को अर्जुन के व्यक्ति–गत मनोभाव तक सीमित रखना चाहिये? उसे मोह–विकार कह कर त्याज्य समझना चाहिये, जैसा कि कृष्ण कहते हैं। जैसा कि शायद कांट भी कहेंगे। ठीक है कि परिणम–बोध की भयावहता अर्जुन के व्यक्ति–चित्त पर भी हावी थी, पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी परिणाम–दृष्टि व्यक्ति–चित्त–सीमित थी। उलटे यह कहना ही यहां उचित है कि उनमें परिमाण–बोध के साथ जो घोर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किंकर्त्तव्य–विमूढ़ भाव उन्हें त्रस्त करता उमड़ आया था–वह एक ऐसे धर्म–संकट के कारण था जिसे व्यक्ति–सीमित कहना धर्म–बोध को ही व्यक्ति–सीमित कहना होगा। मैं समझता हूं कि ठीक यह कहना होगा कि अर्जुन के मन में यह अचानक–जागा परिणाम–बोध परिस्थिति पर भावन का फल था–और यह भावन स्पष्ट ही उनके अपने स्वार्थ के या किसी इच्छा–तन्त्र–आवेग से ऊपर स्थित था। यह भी सोचिये कि कृष्ण और उनके दिव्यत्व के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए महाभारतकार व्यास भी युद्ध के परिणाम को भयावह ही देखते–दिखाते हैं। हम कह सकते हैं कि अर्जुन की तरह उनकी परिणाम–दृष्टि भी सीमित थी। हमारी (मनुष्य की) किसी भी परिणाम–दृष्टि की सीमा होती है। कर्म के लिये प्रश्न यह होता है कि परिणाम–दृष्टि को महत्त्व दें या नहीं दें, यह नहीं कि यह दृष्टि निःसंग होती है या नहीं–आत्मचेतना की निवृत्ति–में–पली निःसंगता के बिना तो क्रिया और कर्म में भेद ही नहीं बनता। पर कर्म किसी संकल्प–व्योम में नहीं होता, उसका परिणाम होता ही है। यों वह परिणाम–दृष्टि की भी अपेक्षा रखता दिखता ही है। गीता के पक्ष से हम कह सकते हैं कि वहां कर्म–बोध के निःसंग–भाव में परिणाम की उपेक्षा निहित नहीं है, बात उसके प्रति भी निःसंग–भाव रखने की है–कर्त्तृत्व के अहंकार से–ममत्व से–हट जाने की।

यों संकल्प–बोध को हम अगर हम स्वातन्त्र्य के किसी ऐसे परमार्थ में न रखें जिसका हमारे व्यवहार से कोई संबंध ही नहीं तो फल या परिणाम–बोध संकल्प में निविष्ट ही दीखता है। कर्म का लक्ष्य फिर कल्याण या अभ्युदय के रूप में उभरता है। अभ्युदय क्या, यह दृष्टि विचार में कई रूप लेती है, पर इस दृष्टि के पीछे भावन की भूमिका भी देखी जा सकती है। अभ्युदय का लक्ष्य मनुष्य और उसका संसार है, पर मनुष्य रूप में होने–जीने–रहने का भाव या अंतर्बोध क्या है, इसकी पकड़ भावन से बनती है। मनुष्य क्या है, वह क्या हो सकता है, उसे क्या होना चाहिये, मनुष्य–भाव का ऐसा अंतर्बोध भावन में ही संभव है–कथा,नाटक, उपन्यासों में अभिव्यक्त होता देखा जा सकता है। ऐसे भावन में हम विभिन्न भावों की तोल–परख भी पा सकते हैं, क्योंकि भावन विभिन्न भावों में विवेक भी करता है–हिंसा, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, लोलुपता.... ये निचले हैं, 'अनुचित' हैं, यह बोध भावों को भाव की आँख से देख पाने पर ही भीतर से जागता है। विशुद्ध विचार से भावों के बीच श्रेय–भेद कैसे बनेगा, समझ में नहीं आता। विचार भेद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है—अपनी तरह से विवेक—व्याक्रिया—करता है, पर भावन के आधार बिना विचार के लिये भावों के भेद में उत्तम—अधम के धरातल नहीं उभरते दिखते। उलटे, भावन के बिना—उसके अपने साध्य या आदर्श बोध के बिना—विचार—बुद्धि के लिये स्वार्थ—दृष्टि से उपादेयता के आधार पर भावों में भेद करना भी उतना ही सार्थक ठहरता है। कूटनीति की वंचना का यही आधार होता है।

बुद्धि के भाव—बोध और भावों के भावन में अंतर यह है कि भावन के लिये दूसरे भाव अध्यवसित नहीं व्यंजित होते हैं। विचार में जागता अध्यवसाय किसी भाव को बाहर से देखता हुआ उसे आँकता—समझता है, उसके लक्षण उभारता है, संबंधों को परखता है, पर उसे भाव—रूप में, भाव—संवेदना के साथ भीतर से नहीं भाँपता। हम विचार का एक परम व्यापक रूप भी देख सकते हैं जहां विचार सर्व को समेटता हुआ अपार क्षितिज के बीच जागता है। उसकी प्रज्ञा सिद्ध के साध्य को समेटती दिखती है—जैसा हमने ईशावास्य में देखा। पर ऐसा विचार भावन को अंतर्गर्भ रखता है।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर,
अजमेर रोड, जयपुर-302006

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्ध दर्शन का यथार्थवाद

नारायण शास्त्री द्रविड़

बौद्धों के सौत्रांत्रिक संप्रदाय का दर्शन जिसके संघटक महातार्किक धर्मकीर्ति हैं, उसे पूर्णतया यथार्थवाद का पुरस्कारक कहा जा सकता है। योगाचार तथा माध्यमिक संप्रदाय के बौद्धदार्शनिक विज्ञानवादी तथा शून्यवादी हैं। वैभाषिक संप्रदाय स्थूल रूप से यथार्थवादी कहा जा सकता है लेकिन निश्चयात्मक के ढंग से यथार्थवाद का यह दर्शन पुरस्कार नहीं करता। यथार्थवाद की–वह किसी भी प्रकार का हो–कुछ प्रमुख आधारभूत विशेषतायें हैं। ये स्थूलरूप से कम से कम सभी यथार्थवादी दर्शनों में विद्यमान मानी जा सकती है। एक विशेषता ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता है। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विज्ञानवादी–भारतीय योगाचार तथा अभारतीय काण्ट और हेगल आदि दार्शनिक वस्तुमात्र को विज्ञानरूप, विज्ञानाकार, विज्ञान का मनोबाह्यरूप या विज्ञान के साथ आंतरिक संबंध से संबद्ध मानते हैं। यथार्थवादी दार्शनिक वस्तुओं को या वस्तुमात्र को ज्ञेय मानते हुए भी उन्हें ज्ञानरूप, ज्ञानाकार अथवा ज्ञान से नियत संबद्ध नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान और ज्ञानविषय वस्तुओं का विषयविषयिभाव संबंध न अनिवार्य होता है न सार्वकालिक। यथार्थवाद की दूसरी आधारभूत विशेषता वस्तुओं का पारस्परिक भेद है। यह भेद आन्तरिक हो सकता है या सापेक्ष। जैसे वैज्ञानिक मत में भाव और अभाव रूप पदार्थों का भेद आत्यन्तिक कहा जा सकता है (भले ही किसी भाव पदार्थ का अभावाभाव उससे अभिन्न हो। भावरूपेण भाव पदार्थ अभाव से भिन्न ही होता है)। लेकिन एक द्रव्य जैसे दिशा और दूसरा द्रव्य जैसे काल– इनका भेद सापेक्ष ही कहा जा सकता है। नित्य, विभु तथा विशेषगुण रहित द्रव्य के रूप में ये दोनों सापेक्ष रूप से ही भिन्न हैं। इसी कारण से तार्किक मूर्धन्य रघुनाथ शिरोमणी ने इन दोनों को एक मानकर इन्हें ईश्वर स्वरूप ठहराया है। सौत्रांतिकों के यथार्थवाद में उक्त दोनों विशेषतायें विद्यमान हैं। ज्ञान और ज्ञेय के भेद को वे अस्वीकार नहीं करते, भले ही वे ज्ञान को स्वप्रकाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् स्वरूपतः ज्ञेय मानते हों। इस एक अपवाद को छोड़कर अन्य सभी ज्ञेय पदार्थों को तद्विषयक ज्ञानों से वे भिन्न ही मानते हैं। सौत्रान्तिक पदार्थों को रूप, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार जैसे रूपों से उपवर्णित करते हैं और इनको परस्पर भिन्न समझते हैं।

इन दो सामान्य विशेषताओं पर आधृत होते हुये भी सौत्रान्तिकों का यथार्थवादी विचार अन्य भारतीय दर्शनों के यथार्थवाद परक विचारों से नितान्त भिन्न प्रकार का है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का जिसका शायद ही किसी भारतीय चिन्तक ने उल्लेख किया हो, स्पष्टतया उल्लेख करना उचित होगा। वह तथ्य यह है कि योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवाद को तथा माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवाद को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी प्रकार के यथार्थवाद के ही पुरस्कारक हैं। अद्वैत वेदांत कि यथार्थवादिता के संबंध में प्रश्न उठाया जा सकता है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी तथाकथित पदार्थों को यह दर्शन असत् या मायिक मानता है। लेकिन अद्वैत वेदांत का व्यावहारिक सत्य का परमार्थ सत्य से अतिरिक्त सत्य के रूप में पुरस्कार उसे यथार्थवादी ठहराने के लिये पर्याप्त है। इस मुद्दे की चर्चा अप्रासंगिक होने से हम यह मानकर चलते हैं कि विज्ञानवादातिरिक्त सभी भारतीय दर्शन यथार्थवादी हैं। सौत्रांतिकों के इतरभेदक यथार्थवादी विशेषताओं को उद्धारित करने लिये न्याय तथा मीमांसा के यथार्थवाद का साम्य–वैषम्य विचार उद्बोधक होगा। न्याय तथा न्याय वैशेषिकों के यथार्थवाद को वस्तु मात्र के ज्ञेयत्व के रूप में जिसे अंग्रेजी में ऑब्जेक्टिविजम कहा जाता है–उपवर्णित करना उपयुक्त होगा। इस दर्शन के अनुसार विश्व की सब वस्तुएं ज्ञेय हैं या ज्ञानविषयतायोग्य हैं। ऐसी कोई वस्तु न होती या हो सकती है जो किसी न किसी ज्ञान का विषय न हो या ऐसा होने योग्य न हो। बिलकुल अज्ञात विषय भी–जिनकी वैज्ञानिक या अन्य लोग खोज कर रहे हैं वे भी– ज्ञानविषयता योग्य कहे जा सकते हैं। भविष्य में ज्ञात होने वाले विषय भी ज्ञेय याने ज्ञान विषयतायोग्य होते हैं। इसी कारण ज्ञेयत्व को और ज्ञेयत्व तुल्य अभिधेयत्व, प्रमेयत्व रूप इन धर्मों को भी इस दर्शन में केवलान्वयी माना गया है। स्वयं ज्ञान का भी ज्ञेय पदार्थो में समावेश इस दर्शन ने किया है। इसका मतलब यह है कि घटपटादि पदार्थों के समान इनके ज्ञान भी अन्य ज्ञान के विषय होते हैं। अन्य पदार्थों में और ज्ञान के बीच ज्ञेयता के संबंध में कोई भी भेद इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन को अमान्य है। वेदान्त के समान यह दर्शन नहीं मानता कि ज्ञान दीप के समान पर प्रकाशक होते हुए स्वप्रकाशक भी होता है। इस मत से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोई ज्ञान ज्ञाता को होने पर उसे वह अज्ञात भी रह सकता है। यह आवश्यक नहीं कि ज्ञाता अपने ज्ञान को उसके घटित होते ही जान ले। यही बात सुख दुःख आदि आत्मगुणों पर भी लागू होती है। इनके घटित होने पर भी ये अज्ञात रह सकते हैं। ऐसी बहुत कुछ अनानुभविक बात का पुरस्कार करने के एक दो करण हैं। एक कारण यह है कि ज्ञान का उसके विषय के आकार जैसा कोई आकार नहीं होता जिसका ज्ञान प्रकाशक हो। आकाररहित शुद्ध ज्ञान को कोई ज्ञान कैसे प्रकाशित करे। ज्ञान निराकार होता है, यह मत न्याय–वैशेषिक तथा मीमांसा दार्शनिकों ने साग्रह पुरस्कृत किया है। विषयभूत ज्ञान और विषयी ज्ञान ये दोनों निराकार होने के कारण इनके बीच प्रकाश्य–प्रकाशक संबंध घटित नहीं हो सकता। शुद्ध विषयविषयिभाव सम्बन्ध ही इनके बीच हो सकता है और यही न्यायवैशेषिक दर्शन ने स्वीकार किया है। यह संबंध संयोग, आधाराधेयभाव संबंधों जैसा ही समझना चाहिये। इस संबंध की विशेषता यही है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी ज्ञान के साथ विषयविषयिभाव संबंध से संबद्ध बनी रहती है।

ज्ञान को स्वप्रकाश न मानने का–इस दर्शन का–दूसरा कारण यह है कि ज्ञान पर ज्ञान के विषय का आकार आरोपित नहीं किया जा सकता। जैसे घट के ज्ञान पर घट का आकार आरोपित नहीं हो सकता। घट एक द्रव्य है और ज्ञान एक गुण। द्रव्य का आकार होता है गुण का नहीं। इसपर प्रतिवाद हो सकता है कि किसी वस्तु के ज्ञान का वर्णन–जैसे घटज्ञान का वर्णन "घटः इत्याकारकज्ञानं" इन शब्दों से किया जाता है जिसका यह अर्थ होता है कि घट ज्ञान का आकार घट जैसा है। क्या यह बात ज्ञान की साकारता नहीं सिद्ध करती। इस प्रतिवाद का समाधान 'आकारकं' इस शब्द के अंर्थ के स्पष्टीकारण से किया जा सकता है। 'आकारकं' यह पद 'आकार' और 'क' इन दो पदों के संयोग से रचित है और इन दोनों का संयुक्त अर्थ 'आकार जिसका है वह' ऐसा होता है। इस अर्थ पर से इतना ही सूचित होता है कि आकार का संबंध ज्ञान से है। आकार ज्ञान पर है ऐसा अर्थ इन पदों का लेने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा मानने में एक गंभीर आपत्ति भी सम्भाव्य है। विषय से उसका आकार अलग नहीं किया जा सकता है। यदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान का विषय के आकार जैसा ही आकार माना जाय तो दो आकार मानने होंगे, एक विषय का और दूसरा ज्ञान का। ऐसा मान लेने पर भी ज्ञानगत आकार विषयाकार जैसा कैसे होगा, जिससे कि ज्ञान अपने विषय का सही ज्ञापक हो सके ? इस पर कहा जा सकता है कि ज्ञानगत आकार विषयाकार जैसा ही होता है। लेकिन ऐसा होने के लिये ज्ञान को दीप के समान विषय का प्रकाशक होना होगा जो न्याय–वैशेषिक दर्शन को मान्य नहीं हैं।

ज्ञान को स्वप्रकाश न मानने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण वैशेषिकों के लिये यह है कि यदि ज्ञान में उसके विषय का आकार प्रतिबिंबित होकर वही ज्ञान के द्वारा प्रकाशित हो तो ज्ञानविषय को ज्ञानबाह्य मानने की आवश्यकता ही न रह जायेगी। इससे यथार्थवाद के बदले विज्ञानवाद का पुरस्कार अधिक तर्कसंतृप्त हो जायेगा। सौत्रांतिक ज्ञानेतर वस्तुओं को ज्ञेय मानते हुए भी ज्ञान को अन्य ज्ञान से ज्ञेय नहीं मानते। वस्तुओं की ज्ञेयता का स्पष्टीकरण न्यायवैशेषिक से बिलकुल भिन्न तरीके से सौत्रांतिक प्रस्तुत करते हैं। सभी बौद्ध दार्शनिक (माध्यमिकों के सिवाय) क्षणभंगवादी होने के कारण वे ज्ञान और उसके विषय को समकालीन या समक्षणिक नहीं मानते। ज्ञान का विषय आलंबन कारण होने से उसे ज्ञानोत्पत्ति पूर्व क्षण में और उसी क्षण में उत्पन्न होकर विद्यमान रहना होगा। ज्ञानोत्पतिक्षण में उसके विषय का विनष्ट होना अनिवार्य है। ऐसी वस्तुस्थिति होने से प्रश्न उठता है कि ज्ञान का उसके विषय के साथ विषयविषयिभाव कैसे हो ? इस पर धर्मकीर्ति का स्पष्टीकरण निम्नकारिकार्ध में दिया गया है :– हेतुत्वमेव च व्यक्तेः ज्ञानाकारार्पणक्षमम्' अर्थात्–विषय अपने ज्ञान का कारण इसी कारण होता है कि वह अपने विनाश के अनंतर उत्तरक्षण में उत्पन्न होनेवाले अपने ज्ञान पर अपना आकार अर्पित करता है। विषयविनाश क्षण में ही अनिवार्यतया उत्पन्न होनेवाला उसका ज्ञान विषयाकाराकारित हो कर ही उत्पन्न होता है। लेकिन ज्ञान स्वप्रकाशक है, इस न्याय–वैशेषिक विरोधी मत का सौत्रांतिक जोरदार समर्थन करते हैं। इस मत का प्रतिपादक–वाक्य धर्मकीर्ति के इस कारिकार्ध में इस प्रकार है – 'अप्रत्यक्षोपलंभस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्याति' अर्थात्–ज्ञान यदि स्वप्रकाशक न हो तो वह विषय का प्रकाशक कभी नहीं हो सकता। इस कथन के अनुसार ज्ञान दीप जैसा होता है, जो स्वयं प्रकाशमान होते हुए ही अपने सन्निधित वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान अपना ही विषय होने से वह स्वाकार और विषयाकार इन दोनों से युक्त होगा और यदि ऐसा हो तो क्या ज्ञान में दो आकार होंगे ? यह भी प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान स्वाकाराकारित होने में अपना ही विषयरूपेण आलंबनकारण होगा ? यदि ऐसी बात नहीं है तो ज्ञान का अपने साथ संबंध विषय या प्रकाश्यरूपेण नहीं हो पायेगा और तब ज्ञान को स्वप्रकाश मानना तर्कसंगत नहीं होगा। इन कारणों से ज्ञान की स्वग्राहकता उसकी विषयग्राहकता से बिलकुल भिन्न प्रकार की माननी होगी और ज्ञान का अपना आकार भी उसके विषय के आकार से भिन्न प्रकार का मानना होगा। इन कठिनाइयों से कहीं अधिक गंभीर कठिनाई उक्त मत में यह है कि ज्ञान को जिस कारण सौत्रांतिक स्वप्रकाशक मानते हैं वह कारण उन्हीं के कथनानुसार ज्ञान को लागू नहीं होता। ज्ञान स्वप्रकाशक न हो तो वह विषय प्रकाशक भी नही हो सकता, यह ज्ञान की स्वप्रकाशकता का समर्थक कारण है। लेकिन क्या ज्ञान अपने पूर्वक्षण मात्र स्थायी विषय का प्रकाशक किसी भी तरह माना जा सकता है ? उपर्युक्त कारिकार्ध में विषय की ज्ञानालंबनकारणता का ही उपपादन किया गया है। लेकिन ज्ञान और उसके विषय का एक ही क्षण में विद्यमान होना असंभव होने से ज्ञान किसी भी तरह से विषय का प्रकाशक नहीं माना जा सकता। यदि विषय प्रकाशकता का पारिभाषिक अर्थ विषयालंबनकारणता को ही मान लिया जाए तो ज्ञान को विषयप्रकाशक माना जा सकता है। लेकिन यह अर्थ ज्ञान की स्वप्रकाशकता को लागू नहीं होगा। ज्ञान स्वप्रकाशक न हो तो वह विषयप्रकाशक नहीं हो सकता, यह धर्मकीर्ति का तर्क बहुत कुछ सही है लेकिन उसका आधार–ज्ञान की विषयप्रकाशकता–सही नहीं है।

अब मीमांसा के ज्ञान संबंधी विचार पर कुछ दृष्टिपात करें। मीमांसा ज्ञान को मन की एक विशेष प्रकार की क्रिया मानती है। इस दर्शन के कर्मप्रधान दृष्टिकोण के अनुरूप ही यह मत है। सामान्य अनुभव से यह बात प्रमाणित है। 'जानामि', 'जानाति' ऐसे सर्वसाधारण ज्ञानक्रियानिर्देशक प्रयोग ज्ञान को एक क्रिया के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। कोई बात ठीक तरह से जानने के लिये जो शारीरिक तथा मानसिक प्रयास करना पड़ता है वह ज्ञान की क्रियात्मकता को व्यक्त करता है। यह बात जरूर है (जिसकी ओर मीमांसा ने विशेष ध्यान नहीं दिया है) कि इस बहुविध प्रयास की परिणति जिस फल में होती है उसे भी या उसे ही प्रायः 'ज्ञान' संज्ञा से निर्दिष्ट किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है। यदि जानने का प्रयास सफल नहीं हुआ तो प्रयासकर्त्ता को ज्ञान हुआ ऐसा नहीं माना जाता। इस पर से प्रतीत होता है कि जानना स्थूलरूप से क्रियात्मक है और सूक्ष्म रूप से गुणात्मक। मीमांसा जानने के क्रियात्मक अंश को ही ज्ञान के मानकर उसके फल को ज्ञान विषय वस्तु में उत्पन्न होकर प्रकट होने वाले 'ज्ञातता' रूप धर्म के रूप में उपवर्णित करती है। ज्ञातता का मतलबं जो विषय ज्ञानक्रिया के पूर्व अज्ञात था वह ज्ञानक्रिया के फलस्वरूप ज्ञात हो गया, ऐसा होना चाहिये। ज्ञानक्रिया संपन्न होने पर ज्ञाता में और ज्ञेय में भी विशेष रूपांतर होता है जो अनुभव सिद्ध है। सामान्य घटपटादि विषयों के ज्ञान के प्रसंग में ऐसे रूपांतर का स्पष्ट अनुभव नहीं होता क्योंकि ये हमसे अत्यंत परिचित सामान्य वस्तुएं हैं। ऐसी वस्तु जिसकी खोज 'वैज्ञानिक या अन्य लोग बड़ी उत्सुकता से करते होंगे, उसके ज्ञात होते ही उक्त रूपांतरण का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। किसी भी अज्ञात नयी बात के ज्ञान के प्रसंग में ज्ञेय बात में ज्ञानता से रूपांतरण होना अनुभव सिद्ध बात है। मीमांसा के विरोधियों ने ज्ञानता के ज्ञान के संबंध में प्रश्न उपस्थित किये हैं। वे सब उक्त रूपांतरण की बात मानने पर स्वयं ही उत्तरित हो जाते हैं।

लेकिन ज्ञान क्रियारूप होने से अनुमेय है प्रत्यक्ष नहीं, यह मीमांसा का मत विशेष महत्त्व नहीं रखता। यदि शरीर के बाह्यांगों की क्रियाऐं इंद्रियगोचर होती हैं तो मनोरूप अंतरिन्द्रिय को उसकी क्रियायें क्यों मानसप्रत्यक्ष गम्य नहीं होती, ऐसा मीमांसा से प्रश्न किया जा सकता है। यदि ज्ञान क्रिया है तो आत्मनिष्ठ सुख दुख, इच्छा द्वेष इत्यादि क्या हैं ? इनका संबंध आंतरिक तथा बाह्य सुख–दुःखादि कारणों से कार्यकरणभावरूप या अन्यविध होता है। तो क्या इन्हें भी क्रियात्मक माना जाय ? इन प्रश्नों की चर्चा मीमांसा ने नहीं की है। यहाँ हमें केवल मीमांसा के ज्ञानज्ञेयत्व या ज्ञानानुमेयत्व मत का सौत्रांतिक ज्ञानस्वप्रकाशतावाद के संदर्भ में विचार करना है। इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है। ज्ञान यदि अन्य वस्तुओं के समान होता है तो ज्ञान ज्ञेय परंपरा कभी समाप्त नहीं होगी। एक ज्ञान जिस ज्ञान से ज्ञात होगा वह ज्ञान भी एक अन्य स्रोत से ज्ञात होगा। इस प्रकार ज्ञेय ज्ञान और ज्ञापक ज्ञान इनकी परंपरा किसी भी ज्ञान में समाप्त नहीं होगी। ज्ञानेतर वस्तुओं के ज्ञान के संबंध में यही आपत्ति उपस्थित होती है। उदाहरण के लिये घट जिस ज्ञान से ज्ञात होता है वह ज्ञान अज्ञात न रहकर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किसी अन्य ज्ञान से ही ज्ञात होगा। इस तरह घट इत्यादि ज्ञान परंपरा अविच्छिन्न चलती रहेगी। इस परंपरा में जो ज्ञान अंतिम माना जाएगा वह अज्ञात रह जाने से उसके पूर्ववर्ती सभी ज्ञान अज्ञात ही रहेंगे। फलतः घट पटादि विषय भी अज्ञात ज्ञान के विषय होने से उनका ज्ञान हुआ होने पर भी वे सब अज्ञात ही रहेंगे। ज्ञाता को इन विषयों का ज्ञान हुआ, ऐसी प्रतीति वास्तव में ज्ञान होने पर भी नहीं हो पायेगी। इस सम्भाव्य ज्ञानमीमांसीय आपत्ति का विचार न्याय और मीमांसा और इन दोनों ज्ञानज्ञेय तावादी दर्शनों ने किया है और उसका समाधान उन्होंने ज्ञानमीमांसासीय भूमिका से हटकर व्यावहारिक भूमिका पर से दिया है। कुमारिल कहते हैं – 'एवं भिन्नतर ज्ञान जन्मनो नाधिकामतिः अर्थात् पहले, दूसरे, या तीसरे ज्ञानों के कारित होने के संबंध में कदाचित् ही किसी संशयकुल व्यक्ति को संदेह हो सकता है। लेकिन इसके बाद वास्तविक संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह सकती, भले ही ऐसे तार्किक संदेह की संभावना बराबर बनी रहे।

अब यथार्थवाद की दूसरी आधारभूत विशेषता का सौत्रांतिक यथार्थवाद के संबंध में विचार करें। वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही वह विशेषता है जिसका न्याय, मीमांसादि दर्शनों ने अपने–अपने ढंग से पुरस्कार किया है। इन दो दर्शनों की भेद विषयक धारणाओं के साथ सौत्रांतिकों की आत्यंतिक भेद विषयक धारणा की तुलना अतिरोचक होगी। प्रथम हम मीमांसा के भेदाभेद या अभेद समानाधिकरण भेद को एक सामान्य उदाहरण के द्वारा विशद करेंगे। घट एक पार्थिव द्रव्य है जिसमें रूप, रस, गंध, आदि गुण विद्यमान होते हैं। इन गुणों के साथ ही घट अपनी एकीभूत सत्ता बनाये रखता है। द्रव्य और गुण भिन्न प्रकार के पदार्थ होने पर भी इन दोनों के बीच विशेष प्रकार का संबंध इन्हें एकाकार पदार्थ के रूप में गठित करता है। रूप, रसादि गुणों को गुणों के रूप से देखा जाय तो वे घट से भिन्न प्रतीत होंगे और ऐसे ही होंगे भी। किन्तु यदि उन्हें घट की एकीभूत सत्ता के अंग के रूप में देखा जाय तो वे घट स्वरूप ही प्रतीत होंगे और वैसे ही होंगे। गुण घट के और उससे अविभाज्य हैं। इसी प्रकार घट एक भूत द्रव्य के रूप में गुण से भिन्नतया प्रतीत होगा और वैसा वह है भी। किन्तु एक गुणी वस्तु के रूप में वह स्वगत गुणों से अभिन्न ही प्रतीत होकर वैसा ही होगा। इस तरह घट की एकीभूत सत्ता में द्रव्य और गुण इन दो विभिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्ताओं का परस्पराविरोध से समावेश हो जाता है। इस समावेश की 'भेदसमानाधिकरण अभेद' यह संज्ञा है। इस तरह भेद और अभेद इनके बीच आत्यंतिक विरोध मानना आवश्यक नहीं है, यह तथ्य सूचित होता है। सामान्य जनों की भेद–अभेद और इनके संबंध के विषय में ऐसी ही धारणा होती है। वे गुणों को आधारभूत द्रव्य से भिन्न मानते हुए अभिन्न भी मानते हैं। यदि दर्शन से अनभिज्ञ किसी अशिक्षित व्यक्ति से पूछा जाय कि लाल कपड़े का रंग कपड़ा है कि रंग तो वह निश्चय पूर्वक कहेगा कि लाल रंग रंग है न कि कपड़ा। ऐसा ही जाबाब वह कपड़े के बारे में पूछने पर भी देगा। लेकिन यदि पुनः उसी व्यक्ति से पूछा जाय कि कपड़ा स्वयं लाल है या वह केवल ऐसा दिखाई दे रहा है तो इस प्रश्न का उत्तर वह यही देगा कि कपड़ा लाल ही है और वह जैसा है वैसे ही दिखाई दे रहा है। इन दो उत्तरों पर दार्शनिक दृष्टि से सोचने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य जन वस्तुओं के आस्तित्व और उनके प्रातिस्विक स्वरूप इनमें विशेष फर्क नहीं करते। लाल रंग का रंग या गुण के रूप में कपड़े में अस्तित्व है और गुणत्व की–जो वस्त्रत्व से भिन्न है– उसमें सत्ता है। गुणत्व और वस्त्रत्व की सत्तायें एक दूसरे से भिन्न हैं लेकिन वे इतनी भिन्न नहीं हैं कि वे एक दूसरे में समाविष्ट न हो पायें। कपड़ा लाल रंग न होते हुए भी लाल है और लाल रंग कपड़ा न होते हुए भी लाल कपड़ा ही है। एक दूसरा उदाहरण लें। हाथ शरीर में होते हुए शरीर का अंग है। यह शरीर से भिन्न होते हुए भी उससे अभिन्न है। तथापि हाथ को हाथ कहा जाता है और शरीर को शरीर। ऐसी ही बात शरीर और शरीर के संबंध में दिखाई देती है। शरीर शरीरी का है और शरीरी शरीर ही होता है। इसी से अपने शरीर का अंगुलि निर्देश करते है हुए 'मैं यह हूँ' ऐसा और 'तुम कौन हो' यह किसी व्यक्ति से पूछने पर वह जबाब देता है। 'शरीर मेरा है' ऐसा भी शरीर से अपने भेद को दर्शाने वाला प्रयोग उचित समझा जाता है। इस प्रकार सामान्य जनों की भेदाभेदविषयक धारणओं का – जो अविचारितरमणीय ही होती है– अनुसरण स्थूल रूप से मीमांसक करते हैं।

न्याय वैशेषिक दार्शनिक भेद और अभेद के विरोध को या आस्तित्व और सत्ता के भेद को स्वीकार करते हुए ही इनका समावेश वस्तु की आनुभविक एकता में करते हैं। घट कही उदाहरण लें। घट में घटत्व है और रूप रसादि गुण भी हैं। गुणों में गुणत्व है। घटत्व और गुणत्व अत्यंत भिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म हैं। तथापि गुणत्व युक्त गुण और घटत्वयुक्त घट में समवाय सम्बन्ध होने से दोनों घट से भिन्नाभिन्न प्रतीत होते हैं। "घट लाल है" इस अभेद सूचक प्रयोग का 'लाल रंग युक्त घट है' ऐसा ही अर्थ ये दार्शानिक करते हैं। 'लाल' शब्द का अर्थ 'लालरंग युक्त' ऐसा लक्षणावृत्ति से लेकर समवाय रूप एक विशेष प्रकार के संबंध को – जो अभेद और भेद को एक दूसरे से जोड़ता प्रतीत होता है– इस युक्ति का वे 'निर्धारक ठहराते हैं।' सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों प्रकार के भेदों को–जो अभेद विरोधी हैं– वे दार्शानिक स्वीकार करते हैं। आस्तित्व और सत्ता या वस्तु का प्रातिस्विक रूप इनके भेद का मीमांसाकों के समान अपलाप ये नहीं करते। समवायरूप संबंध की एक अनूठी अवधारणा के आधार से ही परस्पर विरोधी भेदाभेद का वस्तु की समवायी एकता में सहावस्थान न्यायवैशेषिक के लिये संभव हुआ है। समवाय न पूर्णतया आंतरिक संबंध है न पूर्णतया बाह्य संबंध। वह स्वरूपतः भिन्न वस्तुओं को एक दूसरे के अत्यंत निकट लाकर भी यह उनकी भिन्नता को बनाये रखता है, ऐसा मान लिया गया है।

अब बौद्धों की भेदावधारणा की मीमांसा और न्याय की भेदावधारणाओं से उसकी तुलना कर देखें। भेद बौद्धों के लिये आत्यंतिक है, भले ही वह ऐसा प्रतीत न होता हो। लाल घट में लाल रंग और घट किसी भी प्रकार अभिन्न नहीं माने जा सकते। अभिन्नता इन पर आरोपित है जिसके पीछे सामान्य अभेदाध्यवसाय की प्रेरणा होती है। घट भी एकरूप नहीं है। वह अनेक क्षणभंगुर अणुओं का एक संघात है। इस संघात से ही रूपादि तथाकथित गुणों का संघात एक विशेष प्रकार के काल्पनिक संबंध से संबद्ध प्रतीत होता है। बौद्ध मतानुसार भेद को आत्यंतिक न मानकर उसका अभेद के साथ किसी भी प्रकार का साहचर्य मानना भेद के स्वरूप का अपलाप करना है। वस्तुओं का स्वरूप न्याय और मीमांसा इन दोनों ने अपने अपने ढंग से एक तरह कल्पित कर दिया है। मीमांसा द्रव्य, गुण इत्यादि को परस्पर भिन्नाभिन्न मानती है और न्याय इनको पूर्णतया परस्पर भिन्न मानकर भी इनका तथाकथित द्रव्य की एकता में समावेश उचित मान लेता है। यह बौद्ध मतानुसार भेदाभेद के साथ खिलवाड़ है। वस्तुएं पूरी तरह स्वयंपूर्ण अर्थात् स्वलक्षण होती हैं। उनके माने जाने वाले गुण, जाति, अन्य धर्म आदि ये भी स्वयंपूर्ण ही होते हैं। इनमें परस्पर कोई संबंध नहीं होता। वस्तुओं के विभिन्न संबंध तथा उनसे घटित माने जाने वाले संश्लिष्ट या सत्कायभूत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदार्थ ये सब काल्पनिक होते हैं। वस्तुओं के विध्यात्मक समझने का ही यह परिणाम है कि हम उन्हें अत्यंत भिन्न पदार्थों के संश्लेषण से घटित मान कर भी एकरूप ही समझते हैं। वस्तुओं के विध्यात्मक कल्पित स्वरूप में देश, काल, गुण, जाति, संबंध इत्यादि पारस्परिक संश्लेषणाधारभूत घटकों का निर्धारण होता है। कोई भी वस्तु इन निर्धारकों के बंधनों से छूटती नहीं है। बौद्ध इन सब बंधकों को सत्काय दृष्टि का ही परिणाम मानते हैं। इस मत के आधारभूत अनेक तर्क हैं जिनकी हम अभी संक्षिप्त चर्चा करेंगे। अनुभव का साक्ष्य भी इस मत का समर्थन करता है। अभेद को भेद विरोधी मान लेने पर उनका किसी भी प्रकार किसी में सहावस्थान कैसे हो सकता है ? यह बाते माननी अंग्रेजी की कहावत 'इटिंग दि केक एण्ड हैव इट टू' के मुताबिक ही होगा।

कोई भी स्थूल वस्तु जिसे यथार्थ समझा जाता है स्वलक्षण नहीं होती क्योंकि उसकी घटक अवयव परंपरा अत्यंत भिन्न स्वलक्षण अणुओं से संरचित होती है। ये अणु क्षणभंगुर अर्थात् प्रतिक्षण विनाशी होते हैं, याने इनका उत्पत्तिक्षण ही इनका स्थितिक्षण होकर उसके अव्यवहितोत्तर क्षण में इनका विनाश अनिवार्यतया हो जाता हैं। ऐसे प्रतिक्षण विनाशी अणु ही वस्तुसत् या स्वलक्षण हुआ करते हैं। यह अतीव विस्मयार्ह बातें हैं कि बहुत कुछ ऐसा ही वस्तुसत् संबंधी सिद्धान्त आधुनिक भैतिकी में प्रतिपादित किया है। स्थैर्य, स्थूलता, समानता, एकता ये वस्तुओं में दृष्टिगोचर होनेवाले धर्म पीछे कहे मुताबिक हमारी नैसर्गिक सत्काय दृष्टि के परिणाम हैं। इस तथ्य के लिये एक सामान्य आनुभविक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। मान लें कि एक स्थूल–स्थिर वस्तु जैसे ताजमहल जो चिरकाल तक एक जैसी ही बनी रहती है। उसमें समय के अनुसार थोड़ा बहुत वाह्य परिवर्तन होता रहता है लेकिन इससे उसके तादात्म्य में कोई फर्क नहीं पड़ता। ठीक है। क्या यह वस्तु अनंतकाल तक स्थिर बनी रहेगी ? इस प्रश्न का नकारात्मक ही उत्तर होगा। मोहेनजोदारो, हरप्पा जैसे नगर इस उत्तर के समर्थक हैं। अब दूसरा प्रश्न यह होगा कि क्या इन पुरातन नगरों, वस्तुओं का विनाश अकस्मात् किसी एक समय में भूचाल में जैसे होता है वैसे ही हो गया ? उत्तर यदि 'नहीं' ऐसा है तो फिर प्रश्न होगा कि विनाश की प्रक्रिया कब शुरू हुई ? क्या वस्तु कुछ समय तक अविचल रहने के बाद अकस्मात् इस प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ ? ऐसा मानना उतना ही अतर्कसंगत होगा जितना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थैर्य को स्वाभाविक और विनाश को आकस्मिक मानना। विनाश प्रक्रिया वस्तु के उत्पत्तिक्षण से ही चालू हो जाती है लेकिन चिरकालतक वह हमें गोचर नहीं होती क्योंकि हम विशेष सूक्ष्मदर्शी नहीं होते और हम भी प्रतिक्षण अंतर्वाह्य रूप से विनाशशील होते हैं। जैसे दो समांतर पटरियों पर एक ही दिशा में दौड़ने वाली गाड़ियों में बैठे यात्री एक दूसरे को एक ही स्थान पर अवस्थित देखते हैं वैसे ही हम प्रतिक्षण विनाशशील विश्व के नजारे को देखते हैं। स्थूल समझी जाने वाली प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक घटक अपने उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में पूर्णतया (निरन्वय) नष्ट होकर अपने से अत्यंत भिन्न दूसरे घटक की उत्पत्ति का कारण होता है। यह कार्यकारण परंपरा ही स्थैर्य, स्थौल्य तथा साम्य आदि की कल्पनाओं का बाह्य कारण होती है। अतः प्रत्येक वस्तु एक क्षणिक वस्तुसंतान है। ऐसा सामान्य अनुभव के परीक्षण से ही ज्ञात हो जाता है।

वस्तुमात्र की स्वलक्षणता भी सामान्य अनुभव के परीक्षण से ही ज्ञात हो सकती है। उदाहरणार्थ घट के ही लक्षण को लें। 'जिस वस्तु की जलाधारण के लिये उपयोगिता होती है और जो कंबुग्रीवा युक्त होता है वह घट कहलाता है'; ऐसे घट का लक्षण बताया जा सकता है। इस लक्षण में लक्ष्य घट को कुछ तदन्य दृश्य विशेषताओं से लक्षित किया गया है। ये विशेषतायें घट में विद्यमान होने के कारण ही इनके द्वारा घट की सामान्यतः पहचान होती है। अतः इन्हें घट का लक्षण मान लिया जाता है। इस पर प्रश्न यह है कि यदि लक्षण लक्ष्य का स्वरूप जानने के हेतु अपेक्षित हो तो क्या घर की विशेषताओं को घट का स्वरूप मान लिया जा सकता है ? शायद इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाय कि ये विशेषतायें घट के तटस्थ कहे जानेवाले लक्षण हैं और ये घट से भिन्न होते हुए भी घट की पहचान में सहायक होते हैं। ठीक है। तब घट का स्वरूप कैसे लक्षित होगा यह पूछा जा सकता है। नैयायिक तथा अन्य दार्शनिक भी कहेंगे कि घट का स्वरूप घटत्व है। लेकिन क्या घटत्व घट है और क्या वह घट के समान जलाधारण योग्य वस्तु है ? घटत्व तो एक नित्य सर्वघट साधारण धर्म है जबकि घट एक विनाशशील वस्तु है जो घट सामान्य (अर्थात् यच्च यावत् घटों का समूह) नहीं है। ऐसे घटत्व को घट व्यक्ति का और सभी घटों को मिलाकर भी उसका स्वरूप कैसे मान लिया जाय ? घट व्यक्ति घट व्यक्ति ही है। उसका स्वरूप स्व ही याने घट व्यक्ति ही है। यह घटसामान्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप का प्रश्न नहीं है। ऐसा कोई स्वरूप या स्व का रूप नहीं हो सकता जो स्व का हो और स्व से अन्य का भी। जो सबका रूप है वह स्वरूप कैसे होगा? अतः स्व या व्यक्ति को स्वयं ही अपना लक्षक होना चाहिए।

विचार कर देखा जाए तो लक्ष्यलक्षणभाव की कल्पना ही अन्तर्विरोधी सी प्रतीत होगी। एक दूसरा उदाहरण लें। मनुष्य की परिभाषा 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' ऐसी दी जाती है। इस परिभाषा को एक तटस्थ लक्षण के रूप में विचार करें। मनुष्य की मनुष्यता के पहचान के लिये मनुष्यता से बिलकुल भिन्न प्राणिता का – जो मनुष्येतर सभी प्राणियों का धर्म होता है उसे जानना – और यही नहीं, सामाजिकता जैसे धर्म को जानना इस परिभाषा में आवश्यक मान लिया गया है। क्या कभी कोई मनुष्येतर सभी प्राणियों को और उनमें से कुछ की सामाजिकता को किसी भी तरह जान सकता है ? यदि नहीं तो ऐसी परिभाषा या तटस्थ लक्षण का क्या प्रयोजन हो सकता है ? उक्त दोनों प्रकार के लक्षण लक्ष्य क़ो स्वगत तथा स्वान्यगत धर्मों की सहायता से ही लक्षित करते हैं जो असंबद्ध प्रलाप जैसा प्रतीत होता है।

स्वलक्षण वस्तु स्थिर, एकाधिक क्षणस्थायी, अविरल या नित्य नहीं हो सकती है जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है। क्षण को काल का अत्यल्प अवयव माना जा सकता है। यह एक क्षण ही – जैसा ऊपर कहा जा चुका है – वस्तु मात्र के आस्तित्व का कालिक आयाम होता है। ऐसा होते हुए भी वस्तुएं अनेक क्षणस्थायी या चिरकाल स्थायी कैसे दिखाई देती हैं, इसी बात का स्पष्टीकरण ऊपर दिया गया है। अब इस क्षणिकता या क्षण भंगुरता की तार्किक उपपत्ति जो ऊपर प्रस्तुत की गयी वह आनुभविक उपपत्ति से किस प्रकार भिन्न है, हम इसपर विस्तार से विचार करेंगे। इस क्षणभंगवाद पर ज्ञानश्रीमित्र आदि बौद्ध विद्वानों ने तथा उदयनाचार्य जैसे नैयायिकों ने अनेक खंडन–मंडनात्मक ग्रंथ लिखे हैं।

'स्वलक्षण' इस पारिभाषिक शब्द का सरल अर्थ – जो स्वयं अपना लक्षक है – ऐसा होता है। इससे यह मतलब निकलता है – जो ऊपर सूचित किया गया है – कि वस्तुओं में लक्ष्य–लक्षकभेद नहीं होता। वस्तुस्वरूप ही उसका लक्षक हुआ करता है। यह वस्तुस्वरूप – जो प्रत्येक वस्तु में प्रातिस्विक होता है – क्या है, यह प्रश्न अब उपस्थित होता है। क्या वस्तुगत आकार जो उसमें सदैव विद्यमान होता है, उसे ही वस्तु का स्वरूप मानना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सही नहीं होगा? क्योंकि वस्तु का आकार उसकी प्रातिस्विकता का परिचायक अनिवार्यतया नहीं हो सकता। यही नहीं, व्यवहारतः भी वस्तुओं के आकारमात्र से हम उन्हें पहचान नहीं लेते। चाँदी और प्लॉटिनम बिलकुल समान आकार के लगते हैं लेकिन उनमें नितांन्त भिन्नता होती है। असत् वस्तु भी भ्रान्ति वश सत् वस्तु के जैसी ही प्रतीत होने पर भी वह असत् ही मानी जाती है। यहाँ प्रश्न है प्रत्येक वस्तु की स्वीय अभ्रांत सत्ता का। यह सत्ता, बौद्धों को विचारानुसार वस्तु कौनसी अर्थक्रिया निष्पन्न करती है, इस पर निर्भर रहती है। सत्ता की परिभाषा ही 'अर्थाक्रियाकारित्व' है, ऐसा बौद्ध कहते हैं जो अन्यमतावलंबियों को अमान्य नहीं होगा। अंततोगत्वा हम वस्तुओं की स्थूल या सूक्ष्म रूप से पहचान, वे क्या करती हैं, उनका हमारे ऊपर या अन्यों पर क्या परिणाम होता है, इस बात पर से ही करते हैं। यह अर्थाक्रियाकारित्व प्रतिवस्तु प्रतिक्षण भिन्न होती है। जैसे आकाश में विद्युत् शलाका क्षण मात्र प्रकट होकर हमारी दृष्टि को चौंधियाकर लुप्त हो जाती है, वैसी ही प्रत्येक वस्तुसत् की होती है। लेकिन हम उसे अपने स्वकल्पित मानसिक विकल्पों के आवरणों से अज्ञात रूप से आच्छादित कर एक स्थिर निष्क्रिय वस्तु के रूप में देखते हैं। प्रत्येक वस्तुसत् की स्वीय अर्थक्रिया होना आवश्यक है। अन्यथा वह अन्य वस्तुसतों से अलगायी नहीं जा सकती।

स्थिर प्रतीयमान अनेकक्षणस्थायी वस्तु की एक ही अर्थाक्रिया क्यों न मानी जाय—ऐसा प्रश्न यहाँ उठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ सूर्य आकाश में उदय से लेकर अस्त तक एक जैसा ही प्रकाशमान होता है और वैसे ही अन्य वस्तुए भी हो सकती हैं। उन्हें विद्युत शलाका के समान क्षणिक क्यों माना जाय ? इस पर प्रतिपक्ष यह होगा कि सूर्य सदैव प्रकाशमान होते भी उसकी प्रकाशमानता में प्रतिक्षण फर्क होता दिखता है। इस फर्क के पीछे एक ही सत्ता विद्यमान है ऐसा मानने के लिये क्या प्रमाण है ? सूर्य एक ही है जरूर (ऐसा हम मानते हैं) लेकिन उसकी प्रकाश रश्मियों की तीव्रता और मंदता क्षण—प्रतिक्षण बदलती रहती है; तब उन्हें परस्पर सादृश्य प्रतीति मात्र से एक ही कैसे मान लिया जाय ? जब मूलभूत वस्तु सत् एक ही है तो उसकी प्रतीतियाँ भिन्न—भिन्न क्यों होती हैं ? यदि यह प्रतीतियों का ही भेद है तो उनकी उत्पादक वस्तु एक कैसे हो सकती है? एक रूप वस्तु अनेकरूप दिखाई दे सकती है; ऐसा कहना इस प्रश्न का सही जबाव नहीं होगा। यह एकरूपता के स्वरूप के संबंध में ही प्रश्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। किसे एकरूप माना जाये और किसे अनेक रूप ? इस प्रश्न को एक को अनेक के साथ सम्बद्ध कर उत्तरित नहीं किया जा सकता। एक और अनेक नितांत भिन्न हैं, भले ही वे निकट संबंध से सम्बद्ध लगते हों। यदि अर्थक्रियायें भिन्न हैं तो जिसको वे प्रतीत होती हैं वह भी भिन्न रूप ही है, एक नहीं। नैयायिक तथा मीमांसक इस बात से सहमत नहीं हैं। वे अर्थक्रियाकारित्व के बदले अर्थक्रियासामर्थ्य को वस्तुसत् का स्वरूप मानते हैं। उनके विचार में स्थिर वस्तु देश–काल भेद से एकाधिक अर्थक्रियाओं का निष्पादक हो सकती है।

इस स्पष्टीकरण पर बौद्धों की ओर से प्रश्न होगा कि यदि कोई अर्थाक्रियासमर्थ वस्तु जैसे घट, जिससे जलाहरणादि कार्य एक के बाद एक आवश्यकतानुसार किये जाते हैं वे सब एक साथ क्यों नहीं घटित होते ? उनमें क्रमिकता क्यों होती है ? यदि सहकारियों के होने और न होने का इसे परिणाम माना जाये तो घट के स्वीय कारित्वसामर्थ्य से इस बात का कैसा संबंध समझा जाए ? सहकारी भी स्वीय सामर्थ्य से स्वीय ही कार्य कर सकेंगे? घट और उसके सहकारियों का कोई समुच्चित सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि सब वस्तुएँ स्वलक्षण होती हैं। नैयायिक तथा मीमांसक वस्तुओं को स्वलक्षण नहीं मानते लेकिन वे उन्हें स्थिर और समर्थ मानकर भी इस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति क्रमशः ही क्यों है, व्युत्क्रम से या एकबारगी ही क्यों नहीं होती, इस प्रश्न का सहकारी भावाभाव के आधार पर ही उत्तर दे पाते हैं। यह उत्तर संतोषदायक नहीं है। सहकारी भी स्वीय कारित्वसामर्थ्य को मुख्य कारण को न दे सकता है न उसे प्रभावित कर सकता है। यदि इस विकल्प को माना जाय तो सहकारी कारण सामर्थ्य को परिवर्तित कर कारण को ही परिवर्तित कर देते हैं, ऐसा समझना होगा। लेकिन सामग्री कारणता की कल्पना ही नहीं की जा सकती, ऐसा बौद्धों का दावा है।

वस्तुतः न्याय, मीमांसा तथा बौद्धों की वस्तुसत् संबंधी विभिन्न धारणाओं के पीछे वस्तुसामर्थ्य की विभिन्न धारणायें काम करती हैं। न्याय वस्तु को स्थिर मानते हुए उसे विनाश क्षण पर्यन्त क्रियाशील नहीं मानता। इस क्रियाशीलता को वह सहकारी सापेक्ष ठहराकर उसका निर्धारक वस्तुगत कारणतावच्छेदक धर्म को वह स्वीकार करता है। मीमांसा 'सामर्थ्य या शक्ति' को एक अतिरिक्त पदार्थ मानती है लेकिन यह शक्ति कार्यक्षय होने तक सुप्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहती है। अतः वह योग्य अनुकूल समय पर ही जागृत होकर कार्य करती है। लेकिन जैसे न्याय के लिये सामग्री कारणता की समस्या है वैसे ही मीमांसकों के लिये सुप्त शक्ति कब कैसे जागृत होती है यह समस्या है और जिसका ये दोनों दर्शन संतोषदायक समाधान नहीं दे पाते हैं। अतः बौद्ध 'सत्तैव व्यापृतिः' इस सिद्धान्त को अपनाते हुए वस्तु मात्र को क्षणमात्र स्थायी–क्रिया संतान रूप मान लेते हैं और उक्त प्रश्न का अपेक्षा कृत सुसंगत समाधान प्रस्तुत करते हैं।

16, दि एन्क्लेव मनुकाऊ,
गार्डस् ऑकलैंड (न्यूजीलैंड)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण व्यवस्था एवं प्रमाण सम्प्लव

आनन्द मिश्र

प्रमाण – प्रमेय की व्यवस्था पर ही सम्पूर्ण प्रमाणमीमांसा, किंवा दर्शन की बुनियाद टिकी होती है। हाँ, इन प्रमाण व प्रमेय में कौन प्राथमिक है, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो सकता है। अधिकतर भारतीय दर्शनों की मान्यता है कि प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि होती है – प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि। अब चूँकि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है, अतः जाहिर है प्रमेयमीमांसा के समानान्तर प्रमाणमीमांसा को भारतीय दर्शन में आरम्भ से ही विशेष महत्त्व प्राप्त होता रहा है। पर, प्रमाणमीमांसा के इस महत्त्व का अर्थ यह नहीं कि भारतीय दार्शनिक प्रमेयमीमांसा को लेकर उदासीन हैं। वस्तुतः उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करने के बावजूद सांख्य, वेदान्त या न्याय–वैशेषिक आचार्य अपनी सुगठित प्रमेयशास्त्र या तत्त्वमीमांसा को लेकर प्रस्तुत होते हैं। इन दार्शनिक सम्प्रदायों का यह सोचना है कि एक सुगठित तत्त्वशास्त्र की बुनियाद उपयुक्त प्रमाणों पर अधिष्ठित होनी चाहिये, खड़ी होनी चाहिये। पर यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि ये सभी प्रमेयमीमांसायें या तत्त्वशास्त्र उपयुक्त प्रमाणों पर ही आधारित हैं तो इनमें भिन्नता क्यों हैं ? और फिर दूसरी समस्या स्वयं प्रमाणों को लेकर होती है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से होती है, तो भी स्वयं प्रमाणों को लेकर यह प्रश्न बना रहता है कि उनकी सिद्धि कैसे होती है, प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय, विनियोग आदि का निर्णय कैसे होगा ? संक्षेप में, यदि प्रमाणों से ही प्रमेय की सिद्धि मानी जाए तो स्वयं प्रमाणों की सिद्धि कैसे हो ? प्रमाणों की सिद्धि प्रमाण से ही मानी जाए तो अनवस्था, अन्योन्याश्रय, कर्तृकर्मविरोध या चक्रक आदि दोष दुर्निवार होंगे। कुछ इन्हीं आधारों पर नागार्जुन ने अपनी रचनाओं में किसी भी प्रकार के प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था की तीव्र आलोचना की है। नागार्जुन का मूल उद्देश्य प्रमाणों का विखण्डन है ताकि प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होने वाले भावों की निस्स्वभावता को प्रदर्शित किया जा सके। यह सही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि नागार्जुन ने 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के साथ ही 'मेयाधीना मानसिद्धिः' के विकल्प की भी आलोचना की है और इसे अस्वाभाविक बताया है, पर नागार्जुन की आलोचना का मुख्य बिन्दु यही है कि यदि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से होती है तो स्वयं प्रमाणों की सिद्धि कैसे होगी। प्रमाणों की सिद्धि के लिये प्रस्तुत सभी संभावित विकल्पों को नागार्जुन विरोधग्रस्त पाता है। प्रमाणाश्रित प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था की नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत आलोचनाएँ बाद के बौद्धों को वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा के आधार की तलाश की ओर उन्मुख करती हैं। वैकल्पिक प्रमाणमीमांसा की यह तलाश दिग्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध नैयायिकों द्वारा पूरी होती हैं जो प्रमाणाश्रित प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था के विकल्प के रूप में प्रमेयाश्रित प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था के साथ प्रस्तुत होते हैं।[1]

दिग्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध नैयायिक 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की प्रस्थापना को सिरे से अस्वीकार करते हुए वैकल्पिक रूप से प्रमेयाश्रित प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो तरह के प्रमेय होते हैं और इन दो तरह के प्रमेयों में स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से और सामान्यलक्षण का ज्ञान अनुमान से होता है। चूँकि विषय दो ही हैं अतः उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होंगे। एवंभूत प्रमयों के आधार पर प्रमाणों का निगमन होता है – मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्।[2] वस्तुओं के दो रूप हैं – सामान्य और विशेष, सामान्यलक्षण और स्वलक्षण, साधारण और असाधारण। इनमें वस्तु का जो असाधारण रूप है वही उसका निजी स्वरूप है, स्वलक्षण है, दूसरी ओर साधारण रूप पररूप या आरोपित रूप है अर्थात् सामान्यलक्षण है। जनसाधारण के व्यवहार में जो वस्तु घट इत्यादि के रूप में समझी जाती है, वहाँ रूप – रंग तथा नाम (घट शब्द) आदि से युक्त वस्तु का रूप भासित होता है। घट का वह रूप सर्वघटसाधारण है, अतः वह घट का सामान्य रूप या सामान्यलक्षण है। किन्तु प्रत्येक घट वस्तु का अपना एक विलक्षण निजी रूप भी होता है जो अन्य घटों से व्यावृत्त होता है। वह रूप घटेतर गौ इत्यादि से भी भिन्न होता है, वह किसी के समान नहीं होता है। वस्तु के इसी सर्वतोव्यावृत्त असाधारण रूप को स्वलक्षण कहते हैं। यह वस्तु का निजी स्वरूप होता है। दिग्नाग सम्प्रदाय में यही परमार्थ सत् माना गया है। वस्तु के इसी रूप का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता हैं।[3] चूँकि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो ही तरह के विषय हैं अतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दो ही तरह के प्रमाण हैं। इनमें प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का सामान्यलक्षण है। एक विषय का ग्रहण एक ही प्रमाण से हो सकता है अर्थात् स्वलक्षण का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही और सामान्य लक्षण का अनुमान से ही। न तो स्वलक्षण अनुमान से गृहीत होता है और न सामान्यलक्षण प्रत्यक्ष से। चूँकि हर प्रमाण का विषय और विनियोग नियत है, व्यवस्थित है, इसलिये बौद्धों के इस मत को प्रमाण–व्यवस्थावाद कहते हैं।

जैसा कि ऊपर हमने देखा कि बौद्धों की प्रमाण–व्यवस्था उनकी प्रमेयाश्रित प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था पर आधरित है। बौद्धों की इस प्रमाणमीमांसीय योजना की खासियत यह है कि वे जहाँ एक तरफ सत्ता के अपने वास्तविक स्वरूप (पारमार्थिक रूप) और परतोग्राह्य रूप (व्यावहारिक रूप) का भेद करते हैं तो दूसरी ओर प्रमाणों के दो मौलिक प्रकार भेद बताते हैं जिसमें एक तो प्रत्यक्ष है और दूसरा परोक्ष और इन्हीं दो में यथार्थ ज्ञान के सारे साधनों को विघटित किया जा सकता है।[4] यह कहकर कि वस्तु का एक निजी रूप या स्वरूप होता है और एक पर रूप, एक असाधारण और सर्वतोव्यावृत रूप होता है और दूसरा साधारण एवं सामान्य तथा यह कह कर कि वस्तु का निजी स्वरूप तो साक्षात्कार का विषय है और साक्षात्कारी ज्ञान में ही प्रदर्शित होता है, कि ज्ञान के दो ही प्रकार भेद हैं – एक साक्षात्कारी अर्थात् प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष अर्थात् अनुमान जो वस्तुतत्त्व के वास्तविक रूप का ग्राहक न होकर उसके सामान्य रूप, परतोग्राह्य रूप अर्थात् सामान्यलक्षण का ग्राहक होता है, बौद्ध दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को बहुत अच्छे ढंग से रेखांकित करने में समर्थ होते हैं कि विभिन्न प्रमाणों में अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान में भेद का हेतु करणमूलक न होकर स्वयं विषयों के स्वरूप में निहित होता है। साथ ही बौद्ध दार्शनिक इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करने में समर्थ होते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान की वह विधा है जिसमें सीधे वस्तु का अपना स्वरूप प्रतिभासित होता है और इसीलिये वह (प्रत्यक्ष) स्फुट होता है। प्रत्यक्ष की 'स्फुटाभता' जहाँ एक ओर प्रत्यक्षेतर ज्ञान से उसकी भिन्नता को आप ही प्रकट करती है, वहीं सत्ता से अपने सीधे सम्बन्ध को बरबस प्रदर्शित करती है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्धों के अनुसार परमार्थसत् स्वरूप स्वलक्षण का यही अर्थक्रियाकारित्व है कि वह ज्ञान में इस स्फुटाभता को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, दूसरी ओर सामान्यलक्षण इसमें असमर्थ रहता है।[5]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्धों द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विवेचन का एक अन्य निहितार्थ द्वितलीय प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था के रूप में सामने आता है। सत्ता के द्विविध रूप के प्रतिपादन के द्वारा बौद्ध आचार्य वस्तुतः एक द्वितलीय प्रमाण – प्रमेय व्यवस्था की अनुशंसा कर रहे होते हैं। हाँलाकि, इस द्वितलीय व्यवस्था का यह अर्थ नहीं है कि बौद्ध दो तरह की सत्ता स्वीकार करते हैं। सत्ता तो एक ही है, पर उसका एक रूप वह है जो अपने आप में है, दूसरा वह है जो कल्पना या व्यवहार का क्षेत्र है। इसमें प्रथम का ग्रहण प्रत्यक्ष से और द्वितीय का अनुमान से होता है। अब इसका ज्ञानमीमांसीय उपागम इस रूप में सामने आता है कि परमार्थतः प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान भी कहीं न कहीं भ्रम व कल्पना का ही क्षेत्र है।

प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण बताकर और एवंविध विषय का द्विविध विभाजन कर तथा तद् हेतुक दो प्रमाणों को स्वीकार कर बौद्ध आचार्य न्यायवैशेषिक षटपदार्थवाद का खण्डन कर देते हैं। मोक्षाकर गुप्त तर्कभाषा में कहते हैं कि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण बता देने से अन्यों द्वारा विषय रूप में स्वीकृत षटपदार्थ – अवयवी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय के विषयत्व का खण्डन हो जाता है। मोक्षाकर गुप्त कहते हैं कि इन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है और जो प्रतिभासित नहीं होता है उसको विषय मानना संगत नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग होगा – प्रत्यक्षस्य स्वलक्षण विषय प्रतिपादनेन परोक्ताः षट्पदार्थाः न विषया इत्युक्तम् यथा – अवयविद्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषः,समवायश्चेति। न चैषां प्रत्यक्षे ज्ञाने प्रतिभासोऽस्ति। न चाप्रतिभासमानो विषयो युज्यते, अतिप्रसङ्गात्।[6] इसीक्रम में मोक्षाकर गुप्त आगे इस बात का खण्डन करते हैं कि अवयवों से पृथक् अवयवी द्रव्य किसी रूप में अनुभव का विषय बनता है।[7]

जैसा कि पीछे हम लोगों ने देखा कि बौद्धों की प्रमाण व्यवस्था का आधार उनके द्वारा प्रतिपादित विषय के स्वरूप में निहित है। वस्तुवादी न्याय – वैशेषिक और मीमांसकों की तरह बौद्ध सामान्यविशेषात्मक किसी पदार्थ को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य और विशेष परस्पर आत्यन्तिक विरोधी हैं। फलतः वे उनकी एकात्मकता को किसी तरह नहीं स्वीकार करते। अब यदि विषय का स्वरूप ऐसा नहीं है कि वह एक साथ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्यविशेषात्मक हो सके तो ऐसी स्थिति में किसी विषय का प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों का विषय बनना असम्भव है। न्यायादि दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष विशेष को ही नहीं अपितु सामान्य को भी ग्रहण करता है और इसी प्रकार अनुमान भी विशेष और सामान्य दोनों का ग्रहण करता है। फलतः इन दार्शनिकों के अनुसार एक ही विषय अनेक प्रमाणों द्वारा गृहीत होता है और एक ही प्रमाण अनेक ढंग के विषयों को गृहीत कर सकता है। जबकि बौद्ध किसी प्रकार के साङ्कर्य के पक्षपाती नहीं हैं। प्रमाण अपने निशिचित प्रमेय का ही ग्रहण करता है और एक प्रमेय के अनेक प्रमाण ग्राहक नहीं हो सकते। बौद्धों के अनुसार यदि प्रमाणसाङ्कर्य माना जाए तो प्रमाण–प्रमेय– व्यवस्था नहीं बन सकती और प्रत्येक प्रमाण की अनिवार्यता नहीं रह जाएगी।"[8] इस प्रकार प्रमाणों के सन्दर्भ में नैयायिक जहाँ साङ्कर्यवादी हैं वहीं बौद्ध व्यवस्थावादी। नैयायिक, मीमांसक आदि सामान्यविशेषात्मक पदार्थ मानते हैं, फलतः वे उसका ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से मानते हैं जबकि बौद्ध स्वलक्षण और सामान्यलक्षण अलग – अलग मानते हैं, फलतः उनके ग्रहण के लिये दो अलग – अलग प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान मानते हैं।

बौद्धों के उपर्युक्त मत की नैयायिकों ने जबर्दस्त आलोचना की है। वे इस बात का खण्डन करते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं क्योंकि दो ही तरह के विषय हैं। वे कहते हैं कि पहले तो 'दो ही तरह के विषय हैं' इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके लिये न तो प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है और न अनुमान, और बौद्ध किसी तीसरे प्रमाण को मानते नहीं। पुनः यदि कथंचिद् विषयों के द्वैविध्य को मान भी लिया जाए तो उनके लिये दो ही प्रमाण होंगे और इन दो प्रमाणों में भी ये विषय क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान से ही ग्रहीत होंगे, इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है। जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में कहते हैं "यदि थोड़ी देर के लिये विषय – द्वैध मान भी लिया जाए तो इससे क्या ? भला सामग्री की भिन्नता और फलों की भिन्नता के आधार पर होने वाला प्रमाण – भेद अर्थात् प्रमाणगत चातुर्विध्य कैसे वारित हो सकता है ? प्रत्यक्ष और अनुमान की सामग्री से उपमान और शब्द – प्रमाण के फल भिन्न हैं। इसलिये फल और सामग्री के चातुर्विध्य के आधार पर भी प्रमाण का चातुर्विध्य मानना अनिवार्य होने के कारण बौद्ध सम्मत प्रमाणगत द्वित्व संख्या खंडित हो जाती है।"[9] बौद्धों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की प्रमाण – सम्प्लव विरोधी युक्तियों का खण्डन करते हुए जयन्तभट्ट कहते हैं कि दो मात्र विषय मानने पर भी प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही सही, परस्पर में सम्प्लव को प्राप्त करेंगे ही क्योंकि देश–काल आदि के भेद से कभी परोक्ष विषय भी प्रत्यक्षता को प्राप्त करेगा और प्रत्यक्ष विषय भी परोक्षता को। पुनश्च यदि प्रमाणों का सम्प्लव नहीं माना जाए तो फिर अनुमान का ही प्रामाण्य प्रतिष्ठित नहीं होगा क्योंकि अनुमान का आधार व्याप्ति है और इस व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही मानना होगा।[10] अस्तु, नैयायिकों का कहना है कि प्रमाण व्यवस्था को लेकर बौद्धों का दुराग्रह उचित नहीं है।

बौद्धों की प्रमाणव्यवस्था के विपरीत नैयायिक प्रमाणसम्प्लव को स्वीकार करते हैं। यद्यपि यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि नैयायिकों को प्रमाणसम्प्लववादी ही कहना उचित नहीं होगा क्योंकि वे प्रमाणव्यवस्था और प्रमाणसम्प्लव दोनों का समर्थन करते हैं। स्वयं भाष्यकार वात्स्यायन प्रश्न उठाते हैं कि प्रमाणों का प्रमेय में सम्प्लव होता है अथवा उनकी इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नियत है – किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते ? अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति ? उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि दोनों ही देखे जाते हैं – उभयथा दर्शनम्।[11] इस सम्बन्ध में वात्स्यायन के मत को यथावत् रखना उपयुक्त होगा। वात्स्यायन कहते हैं "दोनों ही (प्रमाणों का समप्लव और व्यवस्था) देखे जाते हैं। जैसे 'आत्मा है' यह आप्तोपदेश से प्रतीत होता है। इसं विषय में अनुमान भी है; क्योंकि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के ज्ञापक लिङ्ग हैं। योगी को योगज प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा और मन के संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष भी होता है।"[12] इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हुये वात्स्यायन कहते हैं कि पहले सुनकर कि वहाँ अग्नि है, शब्द प्रमाण से अग्नि का ज्ञान होता है। बाद में उठते हुए धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। समीप पहुँचने पर आँख से देखकर यहाँ अग्नि है, इस प्रकार अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः हम देखते हैं कि एक ही विषय का अनेक प्रमाणों के द्वारा ज्ञान संभव है। पर कहीं कहीं प्रमाणों के प्रयोग में व्यवस्था भी देखी जाती है। प्रमेय का ग्रहण किसी विशेष प्रमाण से ही संभव हो पाता हैं। प्रमाणव्यवस्था का उदाहरण देते हुए भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि स्वर्ग चाहने वाला अग्निहोत्र करें 'अग्निहोत्रं जुहुयातस्वर्गकामः', इस विषय में आगम ही एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मात्र प्रमाण है, क्योंकि इसका ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से।[13] इसी प्रकार हाथ में रखी हुयी वस्तु के लिये मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान और न आगम। या जैसा कि जयन्तभट्ट ने कहा कि 'अपने हाथ दो हैं' यह ज्ञान सबको प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, न शब्द प्रमाण से और न अनुमान से। अतः नैयायिकसम्मत मत यही है कि प्रायः अनेक प्रमाण एक विषय का ग्रहण कराते हैं, पर कहीं कहीं व्यवस्था भी होती है अर्थात् व्यवस्थित रूप में एक ही प्रमाण एक विषय का ग्राहक बनता है– तस्मात् स्थितमेतत् प्रायेण प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते क्वचित्तु प्रमेये व्यवतिष्ठन्तेऽपीति।[14]

प्रमाण व्यवस्था और प्रमाण सम्प्लव को परिभाषित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्रमाता के प्रमातव्य अर्थ में अनेक प्रमाणों का साङ्कर्य 'अभिसम्प्लव' कहलाता है तथा उनके असाङ्कर्य को 'व्यवस्था' कहते हैं – प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः, असम्भवो व्यवस्थेति।[15] इसी को उद्योतकर के शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि यदि एक प्रमाण से, दो प्रमाणों से, बहुत से प्रमाणों से किसी का ज्ञान होता है तो यह प्रमाणसम्प्लव है और यदि एक ही प्रमाण से वह जाना जाता है तो यह प्रमाणव्यवस्था है – प्रमाणेन प्रमाणम्यां प्रमाणैः प्रतिपत्तिरिति संप्लवो गम्यते, प्रमाणेनैवेति व्यवस्था।[16] जयन्तभट्ट ने न्यायमञजरी में प्रमाणसम्प्लव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति का ही नाम संप्लव है – एकस्मिन् विषयेऽनेकप्रमाणप्रवृत्तिः संप्लवः।[17]

यहाँ यह सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि एक विषय का ज्ञान एक प्रमाण से हो जाता है तो फिर उसका पुनः दूसरे प्रमाण से ग्रहण क्या व्यर्थ नहीं होगा ? प्रमाण तो वस्तुतः अनधिगत होता हैं। प्रमाणसम्प्लव को स्वीकार करने का अर्थ होगा अधिगत का ग्रहण। एक प्रमाण द्वारा विषय का ग्रहण हो जाने पर दूसरे प्रमाण द्वारा उसको जानना तो निरर्थक पुनरावृत्ति ही होगी। यह पिष्ट – पेषण मात्र होगा, पिसे हुए को पुनः पिसना होगा। इसके उत्तर में उद्योतकर कहते हैं कि एक प्रमाण से ज्ञात अर्थ का जो दूसरे प्रमाण से ज्ञान होता है, वह अन्य प्रकार से ज्ञान होता है। अतः इसमें कोई दोष नहीं है– 'अधिगतत्वाद वैयर्थ्यमिति चेत्, न, अन्यथा तदधिगतेः।[18] एक प्रमाण द्वारा ज्ञात अर्थ का अपनी रीति से दूसरे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रमाण द्वारा बोध हो सकता है। दूसरे प्रमाण से उस विषय का अन्य प्रकार से ज्ञान होने से हम यह नहीं कह सकते कि जैसे प्रत्यक्ष से अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार अनुमानादि से भी होता है।

वस्तुतः प्रत्यक्ष का ज्ञान भिन्न ढंग का होता है, अनुमान का भिन्न ढंग का और शब्द का भिन्न ढंग का। 'रसगुल्ला मीठा है' यह शाब्द ज्ञान रसगुल्ले के मीठास के साक्षात् प्रत्यक्ष से भिन्न है। अतः विषय के एक होने पर भी उस विषय का ज्ञान अलग – अलग प्रमाणों से अलग – अलग ढंग का हो सकता हैं। प्रमाणभेद के लिये विषयभेद को मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। विषय में भेद न मानने पर भी सामग्री की भिन्नता और फलों की भिन्नता के आधार पर एक विषय का विभिन्न प्रमाणों के द्वारा ग्रहण संभव हो सकता है। प्रमाणव्यवस्थवादियों के इस तर्क को कि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द जैसे विभिन्न प्रमाणों के द्वारा एक ही विषय का ज्ञान संभव माना जाएगा तो फिर इन प्रमाणों में भेद की व्याख्या नहीं हो पाएगी, क्योंकि विषय एक होने से उनकी प्रतीति भी एक ही तरह की होगी। नैयायिक इस बात को सिरे से अस्वीकार करते हैं। हाँलाकि, इस आपत्ति का सही उत्तर क्या है, इसको लेकर स्वयं नैयायिकों में मतवैभिन्य दिखता है, जिसकी चर्चा जयन्तभट्ट न्यायमञ्जरी में करते हैं।[19] प्रथम उत्तर तो यही हो सकता है, जिसे जयन्त एकदेशी मत कहते हैं, कि विषय की एकता होने पर भी कारण भेद प्रयुक्त प्रतीतिभिन्नता का होना स्वाभाविक है। अर्थात् विषय एक होने पर भी उपायभेद के कारण विभिन्न प्रमाणों द्वारा उस विषय का ज्ञान भिन्न – भिन्न ढंग का ही होगा। जैसे एक ही वस्तु को दूर और निकट से देखने पर प्रतीतियों में भेद होता है। जबकि दूसरा उत्तर है और इस उत्तर में नैयायिकों का स्वारस्य प्रतीत होता है कि उपर्युक्त स्थल में प्रतीति में भेद का हेतु वस्तुतः उपायभेद न होकर विषयभेद ही है। निकट से और दूर से देखने के स्थलों में विषय भिन्न होते हैं – दूर से सामान्य धर्म युक्त ही धर्मी देखा जाता है पर निकट से धर्मी में सभी विशेषताओं का साक्षात्कार होता है। फलतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से होने वाली प्रमितियाँ विषय के भेद से भिन्न – भिन्न होती हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान विशेष धर्म युक्त धर्मी को विषय बनाता है, जबकि अनुमित्यात्मक ज्ञान विशेष धर्म को विषय नहीं बनाते हुए केवल साध्यवान् धर्मी को विषय बनाता है। परन्तु, यह स्वीकार करना कि एक ही विषय का प्रत्यक्ष,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से होने वाला ज्ञान भिन्न – भिन्न ढंग का होता है क्योंकि उनके विषय भिन्न – भिन्न होते हैं, एक सामान्य धर्मी मात्र को विषय बनाता है दूसरा विशेष धर्मी को भी विषय बनाता है, वस्तुतः बौद्ध प्रमाणव्यवस्था को पृष्ठ प्रदेश से स्वीकार करना ही है। इस तरह के आक्षेप की आशंका स्वयं जयन्तभट्ट को भी है, तभी तो वे स्वयं ही शंका उठाते हैं – कथं तर्हि तेषां सम्प्लवः सर्वत्र विषयभेदस्य दर्शितत्वात्।[20] यदि यह मान ही लिया जाता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि के विषय भिन्न – भिन्न हैं तो फिर प्रमाण सम्प्लव कैसे हुआ ? उत्तर में जयन्त भट्ट कहते हैं कि उक्त प्रमाणसम्प्लव धर्मी के अभिप्राय से कहा जाता है। अर्थात् उक्त स्थितियों मे धर्मी वही रहता है। उसी अग्नि रूपी धर्मी के बारे में शब्द ज्ञान होता है, धूम हेतु से अनुमान होता है तथा लालिमा, दाहकता आदि धर्मों सहित धर्मी का प्रयत्क्ष होता है। धर्मी तो तीनों ज्ञानों में एक होता है। वस्तुतः जब उद्योतर यह कहते हैं कि गन्धादि के ग्रहण में व्यवस्था है और पृथिवी आदि के ग्रहण में सम्प्लव तो वे भी वस्तुतः यही कहना चाहते हैं कि धर्मी सामान्य, द्रव्य सामान्य या अवयवी सामान्य के ग्रहण में विभिन्न प्रमाणों का सम्प्लव मानना होगा, एक ही प्रमाण द्वारा विभिन्न कालों में उसी धर्मी, अवयवी द्रव्य के ग्रहण को स्वीकार करना न्याय सम्मत वस्तुवाद की रक्षा के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। इस अनिवार्यता की ओर संकेत करते हुए प्रो. पाहि कहते हैं कि निरकुंश इन्द्रिय–व्यवस्थावाद संधातवाद के लिये आधार प्रस्तुत करता है। धर्मधर्मिभेदमूलक तत्त्वमीमांसा के निर्माण के लिये प्रमाण व्यवस्थावाद का तथा निरकुंश इन्द्रिय व्यवस्थावाद का खण्डन करना काणादीय परम्परा के दार्शनिकों के लिये अपनी प्राणरक्षा का प्रश्न है।[21] यहाँ ध्यातत्वय है कि रूप, रस, स्पर्श, गन्ध आदि बाह्येन्द्रियग्राहय गुण रूपी विषयों के स्थल में इन्द्रिय संकर संभव न होने से इन्द्रिय व्यवस्था स्वीकार करना आवश्यक है। पर इस तरह की इन्द्रियव्यवस्था कहीं न कहीं संधातवाद की ओर ले जाती है। इस संघातवाद के खण्डन के लिये धर्म से पृथक् धर्मी की, अवयव से पृथक् अवयवी की, गुण से पृथक् द्रव्य की सत्ता की स्वीकृति अनिवार्य है। इसीलिये प्रो. पाहि कहते हैं कि लोकप्रतीति के अनुरूप घट पटादि अवयवियों में इन्द्रियसम्प्लव तथा रूप, रस, स्पर्श गन्धादि गुणों का यथाक्रम चक्षु, रसना, स्पर्श एवं घ्राणेन्द्रिय द्वारा संयुक्त समवाय रूपी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण स्वीकार करना आवश्यक है। जो घट चक्षु से गृहीत होता है वही पुनः स्पर्शेन्द्रिय से भी गृहीत होता है। उपर्युक्त प्रकार के प्रतिसन्धान की प्रमात्मकता की सिद्धि के लिये अवयवियों के क्षेत्र में इन्द्रियसम्प्लव स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।[22]

एक विषय का ग्रहण एक से अधिक प्रमाणों द्वारा मानने पर जो सबसे अधिक परेशानी सामने आती है वह यह कि जब एक प्रमाण से वस्तुग्रहण हो ही चुका है तो फिर अन्य प्रमाणों द्वारा उनको गृहीत होने की आवश्यकता ही किया है ? यह तो निरर्थक पुनरावृत्ति होगी, अधिगत का ही ग्रहण होगा जबकि अनधिगतता प्रतीति की एक प्रमुख विशेषता होनी चाहिये। इसके उत्तर में नैयायिक यह कहते हैं कि अन्य प्रमाण द्वारा उस वस्तु का ग्रहण अन्य प्रकार से होता है, अन्य रीति से होता है। वस्तुतः एक वस्तु का विभिन्न प्रमाणों द्वारा ग्रहण होने पर उन प्रमाणों के 'वैभिन्य' की व्याख्या समस्याप्रद हो जाती है। यह वैभिन्य कारण सामग्री और फलभेद प्रयुक्त है, अथवा उपायभेदप्रयुक्त है, किंवा विषयभेद प्रयुक्त है, इस प्रकार के विभिन्न समाधान न्याय परम्परा में दिये गये हैं, पर तो भी अधिगत के ग्रहण का वैयर्थत्व यथावत् समस्याप्रद बना ही रहता है। अगत्या कोई दोष नहीं है और परिणामतः वे प्रमाण के लक्षण में अनधिगतता को अस्वीकार करने के लिये विवश हो जाते हैं।

प्रमाणसम्प्लववादियों के द्वारा बौद्धों के उपर यह आक्षेप किया जाता है कि दो ही तरह के विषय हैं या दो ही तरह के प्रमाण हैं, इसके लिये क्या प्रमाण है ? पुनः इन प्रमाणों में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है तथा अनुमान का सामान्यलक्षण, एवंप्रकार का ज्ञान कैसे होता है? वस्तुतः इसकी भी व्याख्या बौद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि यह न तो प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है, न अनुमान से, और इनके अलावा कोई दूसरा प्रमाण होता नहीं है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस तरह की समस्या तो वस्तुतः प्रमाण सम्प्लववादियों के साथ भी है। चार ही तरह के प्रमाण हैं, इसके लिये कौन सा प्रमाण है ? कोई प्रमाण स्वयं अपने को विषय नहीं बना सकता, और यदि यह बनाये तो भी अन्य प्रमाण के लिये प्रमाण की आवश्यकता यथाविध रह ही जायगी।

पुनः इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में कि यदि प्रमाणसम्प्लव को न स्वीकार किया जाए तो अनुमान की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः यही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहना चाहिये कि हेतु और साध्य के बीच के साहचर्य नियम को सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति से ग्रहण होना आवश्यक नहीं है। पुनः अनुमान प्रमाण का क्षेत्र बौद्धों में सामान्यलक्षण है, सामान्यों के बीच ही अविनाभावनियम कार्य करता है, वहाँ प्रत्यक्ष के अनुप्रवेश की बौद्ध कोई आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं। फिर, प्रत्यक्ष की उपजीव्यता या अन्य प्रमाणों में प्रत्यक्ष की अनिवार्य सहकारिता का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्यक्षेतर प्रमाणों को स्वीकार करने वाले लोगों को प्रमाणों का साङ्कर्य स्वीकार करना ही होगा। प्रत्यक्ष मूलक होने पर भी अन्य प्रमाण प्रत्यक्ष से पूर्णतः भिन्न हैं, ऐसा प्रमाणसम्प्लववादियों को भी स्वीकार करना ही होगा।

बौद्धमत को उपस्थापित कर उसका खण्डन करते हुए वार्तिककार उद्योतकर कहते हैं कि यदि यह कहा जाए कि प्रमाणों के भिन्न–भिन्न विषय होते हैं, प्रत्यक्ष का विषय विशेष या स्वलक्षण होता है और अनुमान का विषय सामान्य या सामान्यलक्षण, और सामान्य एवं विशेष ही एकमात्र प्रमेय हैं तथा इनमें प्रत्यक्ष का विषय सामान्य नहीं होता और अनुमान का विषय विशेष नहीं होता है, तो यह ठीक नहीं है। सही स्थिति तो यह है कि न तो प्रमाण दो ही हैं और प्रमेय (विषय) ही मात्र दो हैं और न इन प्रमाणों का असांकर्य है। हमारे मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं। विषय विशेष, सामान्य एवं सामान्य – विशेषवद् भेद से तीन प्रकार का है। और इनमें सभी विषयों का सभी प्रमाणों से ग्रहण होता है, अतः प्रमाणों का असाङ्कर्य नहीं है।[23] हाँ, क्वचिद् प्रमाणों की व्यवस्था भी देखने को मिलती है। वास्तव में न्यायवैशेषिक आचार्यों के अनुसार प्रत्यक्ष की परिधि बहुत व्यापक है, यह न केवल विशेष का प्रत्यक्ष करता है अपितु सामान्य का भी तथा सामान्य विशेष से युक्त पदार्थ का भी। यह सही है कि तद् तद् इन्द्रियों से उनके तद् तद् विषय रूप, रस, गन्धादि गुणविशेषों का ग्रहण होता है और वहाँ व्यवस्था देखने को मिलती है, पर उन्हीं इन्द्रियों से सत्ता तथा गुणत्व का, परसामान्य तथा अपर सामान्य का, सामान्य और सामान्यविशेष का भी ग्रहण होता है। जिस इन्द्रिय से जिसका ग्रहण होता है उसी से उसमें स्थित सामान्य का, समवाय का तथा उसके अभाव का भी ग्रहण होता है – येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तदभावश्च गृह्यते।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तुतः नैयायिक जिस तरह से प्रत्यक्ष की परिधि व्यापक बनाते हैं, षड्विध सन्निकर्षों की बात करते हैं, ज्ञानलक्षणा, सामान्यलक्षणा और योगज प्रत्यासत्तियों की कल्पना करते हैं, इन सबके मूल में नित्यवाद, वस्तुवाद और आत्मवाद की अपनी दार्शनिक मान्यताओं की अनुरक्षा की कामना अधिक दिखती है बजाए अनुभव की उपयुक्त दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत करने की। यह सही है कि धर्म–धर्मिभेदमूलक वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा के निर्माण के लिये प्रमाण व्यवस्थावाद का तथा निरकुंश इन्द्रिय व्यवस्थावाद का खण्डन करना उनके लिये आवश्यक था क्योंकि निरकुंश इन्द्रिय व्यवस्थावाद संघातवाद के लिये कहीं न कहीं आधार तैयार करता है। प्रमाण सम्प्लव को स्वीकृति प्रदान कर नैयायिक अपनी इन विभिन्न तात्त्विक मान्यताओं की रक्षा करने में सफल होते हैं। पर तात्त्विक क्षेत्र की यह सफलता प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में आत्मघाती साबित होती है। एक से अधिक प्रमाण मानने का आधार ही यह होता है कि कुछ विषय ऐसे हैं जिनका ग्रहण उस प्रमाण से नहीं हो पाता है, उनके लिये अन्य प्रमाण यथा अनुमान, शब्द आदि को मानना जरूरी है। अतः विभिन्न प्रमाणों की स्वीकृति का आधार ही एक तरह की प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था है। एक सुगठित प्रमाणमीमांसा की माँग है कि वह इस व्यवस्था पर खड़ी हो। नैयायिक अपनी तात्त्विक मान्यताओं की रक्षा में सुगठित प्रमाणमीमांस की इस अनिवार्य माँग को नजरन्दाज कर देते हैं। नैयायिकों का महत्त्व उनके प्रमाणशास्त्र के लिये सुप्रसिद्ध है। ऐसा दर्शन जो अपनी प्रमाणमीमांसा के लिये प्रसिद्ध हो उसकी तरफ से यह चूक विशेष खटकने वाली है। देखा जाये तो नैयायिक एक विकट उभयतोपाश में फंसते हैं। या तो वे प्रमाणव्यवस्था को स्वीकार करें जिससे संघातवाद आदि को दार्शनिक बल प्राप्त होता है या फिर प्रमाणसम्प्लव को सुगठित प्रमाण–सिद्धान्त (प्रमाणमीमांसा) से वंचित होना पड़ता है। नैयायिक लोकप्रतीति की व्याख्या के अपने दायित्व का हवाला देकर दोनों को ही स्वीकार कर लेते हैं।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. दिग्नाग–धमकीर्ति की प्रमेयाश्रित प्रमाण–मीमांसा के लिए द्रष्टव्य, बौद्ध प्रमाण दर्शन, डॉ. आम्बिकादत्त शर्मा, अध्याय, 1,2,3, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007
2. मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।।
सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः।
शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः ।।
धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, 2/1–2
3. स्वम् असाधारणं लक्षणं तत्त्व स्वलक्षणम्। वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च। तत्र यदसाधारणं तत् प्रत्यक्षस्य ग्राह्यम्।
धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, 1/12
4. डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने "प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श" नामक लेख में यह सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है कि किस तरह बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों में ही अन्य दर्शनों द्वारा स्वीकृत समस्त प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। देखिये, डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का लेख–प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण विमर्श, बौद्ध प्रमाण दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007, पृ. 87–98
5. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञान प्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।
धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/13 साथ ही देखें, धर्मोत्तर की न्यायबिन्दु 1/14 पर टीका– य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसत स एव। स च प्रत्यक्षस्य विषयो यतः, तस्माद् तदेव स्वलक्षणम्।
6. मोक्षाकार गुप्त, बौद्ध – तर्कभाषा, सं. डॉ. रघुनाथ गिरि,
वाराणसी : प्राच्य प्रकाशन, 1969, पृ. 36
7. तथा हि – घटादौ परिदृश्यमाने पूर्वापरादिभागं विहाय नान्यत्किञ्चिदे कमवयविद्रव्यमुपलभामहे। द्रष्टव्य, वही, पृ. 36
8. द्रष्टव्य, जगन्नाथ उपाध्याय का प्राक्कथन, वहीं, पृ. 23
9. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, आनन्द झा कृत हिन्दीं अनुवाद सहित,
सं. डॉ. किशोरनाथ झा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2001, प्रथम भाग, पृ. 77
10. देखें, वहीं, पृ. 73–83
11. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, 1/1/3
12. देखें, वहीं
13. देखें, वहीं
14. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ. 83
15. वात्स्यायन, न्यायभाष्य, 1/1/3

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

16. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, 1/1/1
17. जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ. 72
18. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, 1/1/1
19. देखें, जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ. 81–82
20. कथं तर्हि तेषां सम्प्लवः सर्वत्र विषयभेदस्य दर्शितत्वात्। सत्यम्–धर्म्यभिप्रायेण सम्प्लवः कथ्यते। जयन्तभट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ. 82
21. विश्वम्भर पाहि, वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 2000, पृ. 35
22. देखें, वहीं
23. उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक, 1/1/1

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभावज्ञान की समस्या : एक अनुभववादी समाधान

सच्चिदानन्द मिश्र

दर्शन जहाँ मुख्यतः सत्ताविषयक चिन्तन को महत्त्व प्रदान करता है, वहीं अभावविषयक चिन्तन भी किसी न किसी रूप में सत्ताविषयक प्रश्नों के दायरे में आ ही जाया करता है। अभावज्ञान की समस्या ज्ञानमीमांसीय समस्या है या तत्त्वमीमांसीय समस्या यह निर्धारण करना भी एक कठिन कार्य है । अनेक चीजें उलझी हुई हैं। अगर अभाव नाम का कोई प्रमेय हो ही नहीं तो किस प्रकार से अभावज्ञान की समस्या को ज्ञानमीमांसीय प्रश्न के रूप में उपस्थापित किया जा सकेगा ? इस कारण अभावज्ञान की समस्या एक ओर जहाँ ज्ञानमीमांसीय समस्या है, वहीं यह तत्त्वमीमांसीय समस्या भी है। न्यायवैशेषिक परम्परा में अभाव को एक सत्ताविषयक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सर्वप्रथम अगर किसी को जाता है तो वह न्यायसूत्रकार गौतम को जाता है। न्यायसूत्रों में अभावप्रमाण के बारे में प्रश्न उठाते हुए गौतम पूछते हैं कि अभाव तो प्रमाण ही नहीं हो सकता है क्योंकि उसका कोई प्रमेय ही नहीं है[1]। अन्त में यह सिद्ध करते हैं कि अभाव भी एक प्रमेय है। न्यायपरम्परा के लिए अभाव को प्रमेय मानना अनिवार्य है, क्योंकि आत्मा, शरीर आदि द्वादश प्रमेयों में अपवर्ग की भी गणना की गयी है और अपवर्ग स्वयं अभावात्मक है। इस प्रकार की अनिवार्यता अन्य किसी दर्शनसम्प्रदाय के साथ नहीं है। यहाँ तक कि न्यायसम्प्रदाय के समानतन्त्र वैशेषिक सम्प्रदाय के लिए भी अभाव को अतिरिक्त प्रमेय के रूप में मान्यता देना उस प्रकार से आवश्यक नहीं दिखायी देता। हमारा तो यही मानना है कि वैशेषिक सम्प्रदाय में अभाव को एक पदार्थ के विभाग के रूप में मान्यता प्रदान करने का आधार वस्तुतः न्यायसम्प्रदाय के सिद्धान्तों में ही दिखायी पड़ता है। न्यायसूत्रकार का उक्त प्रश्न अभाव के प्रामाण्य के बारे में न होकर अनुपलब्धि के प्रामाण्य के बारे में है। अनेक दर्शनसम्प्रदायों की मान्यता है कि अभाव को जानने के लिए हमारे पास अनुपलब्धि ही प्रमाण के रूप में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपलब्ध है। अन्य किसी प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान सम्भव नहीं होता। अभाव को किस प्रमाण के द्वारा जाना जायेगा इस विषय में कई मत सामने आते हैं। उन समस्त मतों की अपनी–अपनी सीमाएं हैं तथा अपने–अपने आग्रह हैं। न्यायवैशेषिकपरम्परा की यह मान्यता कि अभाव को हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं, कम विरोधाभासों को जन्म नहीं देती है। प्राभाकर मीमांसकों का अभाव को अधिकरणात्म मानकर, उसका प्रत्यक्ष से ज्ञान स्वीकार करना भी कम विसंगत प्रतीत नहीं होता। साथ ही बौद्ध दार्शनिक के समान यह स्वीकार करना कि अभाव अनुमान प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, इसके भी विविध अन्तर्विरोध हैं। कुमारिलभट्ट व अद्वैतवेदान्तियों का यह स्वीकार, कि अभाव अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, भी अनेक सैद्धान्तिक पूर्वाग्रहों पर आधारित है। मैं इस आलेख में मूल रूप से यह देखने का प्रयास करूँगा कि अभावज्ञान की समस्या किस प्रकार से जन्म लेती है, तथा उसके क्या समाधान अनुभववादी दृष्टिकोण से हो सकते हैं। साथ ही यह भी दिखाने की कोशिश करूँगा कि वे समाधान कितने संगत हैं ? वे समाधान किस प्रकार से व्यवस्थापित किये जा सकते हैं।

न्यायदर्शन को वस्तुवादी दर्शन के साथ–साथ अनुभववादी दर्शन भी माना जाता है। हमारे समस्त ज्ञान हमारे अनुभव से ही जन्म लेते हैं। हमारे ज्ञान का आरम्भ ही अनुभव से होता है। मैं इस जगह पर अनुभव पद का प्रयोग उस अर्थ में कतई नहीं कर रहा हूँ, जिस अर्थ में न्यायवैशेषिकपरम्परा में इस शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से प्रचलित है। न्यायवैशेषिकपरम्परा में सामान्यतः 'अनुभव' शब्द स्मृतिभिन्न ज्ञानमात्र के लिए प्रयुक्त होता है।[2] प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति व शाब्दबोध इन चारों प्रकार के ज्ञानों को 'अनुभव' शब्द के द्वारा इंगित किया जाता रहा है। परन्तु इस स्थल पर मैं 'अनुभव' शब्द का प्रयोग उस संकुचित अर्थ में कर रहा हूँ जिसके लिए सामान्यतः 'प्रत्यक्ष' पद का प्रयोग किया जाता है। हमारे ज्ञान का आरम्भ प्रत्यक्ष से होता है। यह एक आधारभूत अभ्युपगम है, जिसको नकारने का कोई भी नैयायिक कभी भी साहस नहीं कर सकता। हालाँकि अगर पूछा जाये कि यह किस प्रकार से सिद्ध होता है कि हमारे ज्ञान का आरम्भ अनुभव से ही होता है? तो पूरे तौर से कोई सन्तोषजनक उत्तर दे पाना नैयायिकों के लिए थोड़ा मुश्किल होगा। परन्तु नैयायिक यही कहेगा कि इसके अतिरिक्त हमारे पास कोई अन्य विकल्प उपलब्ध ही नहीं है। अनुमान आदि समस्त ज्ञान तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्षपूर्वक ही होते हैं। अनुमान के स्थल में व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है, तथा हेतु के पक्ष में विद्यमानता का ज्ञान भी तो प्रत्यक्ष या कहीं पर शब्दप्रमाण से होता है। जब तक शब्द की शक्ति का अर्थ में ग्रहण न हो, तब तक शाब्दबोधात्मक ज्ञान सम्भव भी नहीं है क्योंकि प्रथमतः शब्द का प्रात्यक्षिक ज्ञान होगा, तदनन्तर उस शब्द के अर्थ का स्मरण और उसके बाद फिर शाब्दबोध इसी कारण गंगेशोपाध्याय 'तत्त्वचिन्तामणि' के अनुमानखण्ड का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि 'प्रत्यक्षाधारित होने के कारण प्रत्यक्ष के बाद व अनेकवादियों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण उपमान प्रमाण के पूर्व अनुमान का निरूपण किया जा रहा है'।[3] इस कारण प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणों को स्वीकार करने के बाबजूद न्यायपरम्परा 'अनुभववादी' परम्परा है क्योंकि समस्त ज्ञान किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष पर आश्रित होते हैं। यद्यपि शब्द प्रमाण को दो प्रकार का स्वीकार किया गया है, दृष्टार्थ व अदृष्टार्थ।[4] परन्तु अदृष्टार्थविषयक शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्षाश्रित होता है क्योंकि शब्द की अर्थ में शक्ति जब तक गृहीत नहीं है, तब तक शब्दप्रमाण अर्थबोधन में समर्थ नहीं होता। अर्थ में शक्ति का ग्रहण किसी न किसी रूप में साक्षात् या परम्परया प्रत्यक्षाधारित ही होता है। इस कारण प्राथमिक ज्ञान तो केवल प्रत्यक्ष के द्वारा ही होता है। अन्य किसी प्रकार से ज्ञान का प्रारम्भ होने का कोई आधार ही नहीं है। इस कारण हमारे समस्त ज्ञानों का उद्‌गमस्थल हमारा अनुभव यानी प्रत्यक्ष ही है। नैयायकों का वस्तुवाद उनके इस अनुभववाद की स्वाभाविक परिणति है। यह अवश्य है कि नैयायिकों का अनुभववाद पाश्चात्य अनुभववाद से पर्याप्त भिन्न प्रकार का है। पाश्चात्य अनुभववाद लौकिक अनुभवों को भी स्पेकुलेटिव अभ्युपगमों के आधार पर ठुकरा देने का साहस करता है, परन्तु न्यायपरम्परा का अनुभववाद ऐसा नहीं करता और न ऐसा करने का कोई आधार ही पाता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनों में व्यवहारविरोध को भी एक दोष के रूप में देखने की परम्परा दिखायी देती है, जो कि पाश्चात्य परम्परा में नितान्त रूप से अनुपलब्ध है। वह जो सामान्य जन का अनुभव है उस अनुभव का आदर होना चाहिए। नैयायिक उसी अनुभव पर अपने दर्शन का महल बनाते हैं, जो कि लौकिकों व परीक्षकों का सामान्य अनुभव है। इसी कारण दृष्टान्त की परिगणना सोलह पदार्थों में न्यायसूत्रकार गौतम करते है।[5] इस कारण न्यायपरम्परा का वस्तुवाद वस्तुतः असमीक्षित वस्तुवाद नहीं, जैसा कि बहुत बार मान लिया जाता है। यह नैयायिकों के उपर्युक्त अभ्युपगम की स्वाभाविक परिणति है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभाव को न्यायपरम्परा में प्रत्यक्ष से ज्ञात माना जाता है। परन्तु न्यायपरम्परा के प्रारम्भिक काल में ऐसा नहीं था। न्यायसूत्रों में अभाव का ज्ञान अनुमान के द्वारा होने की बात कही गयी है। न्यायसूत्रकार गौतम प्रमाणों की संख्याविषयक विप्रतिपत्ति का उपस्थापन करते हैं कि प्रमाण चार ही नहीं हैं क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव भी प्रमाण होते हैं।[6] न्यायपरम्परा चार प्रमाण स्वीकार करती है, परन्तु अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इसी प्रश्न को इस न्यायसूत्र में उपस्थापित किया गया है। इसका समाधान अग्रिम सूत्र के द्वारा गौतम करते हैं कि ऐतिह्य शब्दप्रमाण से अतिरिक्त नहीं है तथा अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव अनुमान से अतिरिक्त नहीं हैं, इस कारण चार प्रमाण ही नहीं हैं ऐसा प्रतिषेध नहीं किया जा सकता'।[7] इस प्रकार से न्यायसूत्रकार का आशय अभावज्ञान के अनुमान के द्वारा ही सम्भव होने का ही प्रतीत होता है। परन्तु न्यायवार्तिककार उद्योतकर पर पहुँचते–पहुँचते यह एकदम स्पष्ट रूप से व्यवस्थापित होता दिखायी देता है कि अभावज्ञान अनुमान के द्वारा न होकर प्रत्यक्ष के द्वारा होता। अभाव के साथ भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्भव है, तथा वह सन्निकर्ष किस प्रकार का है, यह स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम उद्योतकर को ही हम पाते हैं। उद्योतकर ने ही यह बात सर्वप्रथम कही है कि इन्द्रिय का अभाव के साथ विशेषणविशेष्यभावरूप सन्निकर्ष हुआ करता है। यहाँ पर न्यायसूत्रकार के मत से उद्योतकर का एक विचलन सा दिखायी देता है, तथा परवर्ती न्यायवैशेषिकपरम्परा उद्योतकर का ही अनुसरण करती दिखती हैं। न्यायसूत्रकार का अभावज्ञान का अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा सम्पादन विरोधी बौद्धपरम्परा का स्मरण कराता है। बौद्धपरम्परा में भी अभाव का ज्ञान अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा होने की बात की गयी है। धर्मकीर्ति न्यायबिन्दुप्रकरण में स्पष्ट करते हैं कि 'अमूढ स्मृतिजननरूप संस्कार जिस घटादि का है उसके प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति व वर्तमान प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति अभावव्यवहार का साधन करती हैं'।[8]

इस प्रकार से प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति के द्वारा अभाव का अनुमान किया जाता है। प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति ही वस्तुतः अनुपलब्धि कही जाती है। प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति का आशय दृश्यानुपलब्धि से है। अदृश्यानुपब्धि किसी का अनुमान नहीं करा सकती। इस प्रकार समस्त अभावों का ज्ञान अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्धदार्शनिकों का यह अभ्युपगम एक समस्या को जन्म देता है। अभाव हमेशा अनुमान के द्वारा ही जाना जायेगा, अन्य किसी प्रमाण के द्वारा नहीं जाना जायेगा। यह स्वीकार करने पर मुश्किल यह दिखती है कि बौद्ध दार्शनिक कह रहे हैं कि अभाव का अनुमान अनुपलब्धि से, प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति से होता है। परन्तु अनुपलब्धि क्या है? प्रतिपत्तृप्रत्यक्ष की निवृत्ति क्या है? अनुपलब्धि का सीधा सीधा अर्थ होगा उपलब्धि का अभाव। उपलब्धि का अभाव भी तो अभाव ही है। उसका ज्ञान किस प्रकार से होगा ? अगर उपलब्धि के अभाव का ज्ञान किसी अन्य साधन से होता है तो किससे होता है? प्रमाण तो दो ही हैं– प्रत्यक्ष व अनुमान। अनुपलब्धि अगर उपलब्धि का अभाव है तो उसका ज्ञान भी किसी अनुमान के द्वारा ही होना चाहिए। उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान होने के लिए उसे स्वलक्षण होना चाहिए, अभाव तो स्वलक्षण नहीं ही है। अब अगर आप उपलब्धि के अभाव का ज्ञान भी अनुमान से मानें तो निश्चय ही अनुपलब्धिहेतुक ही वह अनुमान होगा। फिर वही समस्या आयेगी। इस प्रकार एक अनवस्था की तरफ हम बढ़ेंगे। क्या इस अनवस्थाप्रसंग का कोई समुचित समाधान है? वस्तुतः बौद्धदार्शनिक अभाव का अनुमान के द्वारा साधन करने की बात नहीं करते हैं अपितु अभावव्यवहार के साधन की बात करते है।[9] दृश्यानुपलब्धि अभावात्मक नहीं है अपितु ज्ञानरूप है। घटादि रूप से जो वस्तु अनुपलब्ध हो रही है उससे अतिरिक्त दृश्यमान वस्तु, व उस दृश्यमान वस्तु का जो ज्ञान है, वहीं वस्तुतः प्रत्यक्षयोग्य घटादि दृश्य वस्तु की अनुपलब्धि है।[10] 'घट के प्रत्यक्ष की निवृत्ति अभावरूप नहीं है, अपितु भावरूप है। इस कारण उपर्युक्त अनवस्था की आशंका आधार नहीं पाती है। साथ ही धर्मकीर्ति अभाव के अनुमान की बात नहीं करते हैं, किन्तु अभावव्यवहार के अनुमान की बात करते हैं। धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि को अभावव्यवहारसाधनी कहा है। परन्तु अभावव्यवहार क्या है? टीकाकारों के द्वारा अभावव्यवहार के तीन प्रकार बताये गये हैं–1.' यहाँ घट नहीं है' इस प्रकार का विज्ञान, 2. उस अभाव का अभिधान, तथा 3. बिना किसी आशंका के उस प्रदेश में गमनागमनरूपा प्रवृत्ति।[11] वस्तुतः धर्मकीर्ति का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार से सामने आता है जिसमें अभाव का अनुमान वस्तुतः अनुपलब्धि के द्वारा नहीं किया जाता है, अपितु एक वस्तु के ज्ञान के द्वारा भिन्न वस्तु के अभावव्यवहार का अनुमान होता है। धर्मकीर्ति स्वयं अनुमान को प्रमाण मानते हुए भी उसे दोयम दर्जे का ही प्रमाण मानते हैं। धर्मकीर्ति का यह मत उनकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विज्ञानवादी मान्यताओं के अनुसार भले ही संगत हो रहा हो, परन्तु किसी भी प्रकार से अनुभववादी अपेक्षाओं व वस्तुवादी लोकानुभव के साथ संगत नहीं दिखायी देता है।

मेरे द्वारा धर्मकीर्ति को विज्ञानवादी कहने पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब धर्मकीर्ति विषय मात्र का स्वलक्षण व सामान्यलक्षण इस प्रकार से भेद करते हैं, तथा स्वलक्षण को परमार्थसत् बताते हैं, तो वे विज्ञानवादी किस प्रकार हो सकते हैं? उनको तो वस्तुवादी सौत्रान्तिक बौद्धपरम्परा के अनुसार व्याख्यायित किया जाना चाहिए। यह प्रश्न और भी सशक्त दिखेगा अगर हम इस तथ्य को भी ध्यान में रखें कि न्यायबिन्दुप्रकरण में कहीं पर भी लेशमात्र भी संकेत धर्मकीर्ति के विज्ञानवादी होने का नहीं प्राप्त होता। परन्तु धर्मकीर्ति को विज्ञानवादी मानना ही उचित व तर्कसंगत है। धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में भी 'मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' का उद्घोष तो करते ही हैं। प्रत्यक्ष को स्वलक्षणविषयक व अनुमान को सामान्यलक्षणविषयक यहाँ पर भी मानते हैं। परन्तु प्रत्यक्षपरिच्छेद में ही गम्भीर विचार करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'कोई भी अर्थ संवेदन रहित नहीं है तथा बिना संवदेन के कोई अर्थ भी नहीं है, इस कारण अर्थ व ज्ञान में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। पुनः इस कारण ज्ञानकाल में ही अवभासित होनेवाले अर्थ का ज्ञानरूप होना दुर्वार है।[12] इसलिए स्वलक्षण भी बाह्य नहीं है, किन्तु विज्ञान ही स्वलक्षण है। स्वलक्षण शब्द के द्वारा किसी बाह्य वस्तु को नहीं समझना चाहिए, अपितु विज्ञान को ही। प्रमाणवार्तिक के अनुसार धर्मकीर्ति को विज्ञानवादी व न्यायबिन्दुप्रकरण के अनुसार वस्तुवादी मानना मुझे किसी भी तरह से उचित नहीं दिखायी देता। न्यायबिन्दुप्रकरण की हर एक पंक्ति प्रमाणवार्तिक के अनुसार धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद के साथ संगत है।

ज्ञान का भेद विषय के भेद के बिना किस प्रकार से सम्भव है? इस सवाल का कोई सन्तोषजनक उत्तर धर्मकीर्ति के मत के अनुसार प्राप्त करना सम्भव नहीं दिखायी देता है। धर्मकीर्ति इसके उत्तर में यही कहेंगे कि किसी ज्ञान का कोई दूसरा ज्ञान ही अन्दर विद्यमान वासना का प्रबोधक होता है, उसी वासना के द्वारा ही ज्ञानों का नियम होता है, किसी बाह्य अर्थ की व्यपेक्षा से नहीं।[13] जिस प्रकार स्वप्न में बिना किसी बाह्य अर्थ की व्यपेक्षा से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जाग्रत् काल में भी बाह्य अर्थ की व्यपेक्षा के बिना ही ज्ञान उत्पन्न होते हैं। धर्मकीर्ति का यह उत्तर लौकिक व्यवहारों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की व्याख्या करने का प्रयास तो करता है, परन्तु सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी परिणति किसी भी ज्ञान को बाह्यवस्तु का आधार न प्रदान करने में होती है।

न्याय–परम्परा के जो आधारभूत अभ्युपगम हैं, उसमें इसके लिए कोई आधार नहीं बचता कि अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। अभाव यदि अनुमान के द्वारा जाना जाता है तो उसका अनुमान किस हेतु से किया जायेगा? यदि किसी भी स्थल में अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो किस प्रकार से अभाव का अनुमान भी कर पाना सम्भव होगा? यदि अग्नि और धुआँ किसी स्थल में पहले साथ–साथ नहीं देखे गये हैं तो धुआँ देखकर भी अग्नि का अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं हुआ करता है। इसी प्रकार यदि अनुपलब्धि व अभाव को किसी स्थल में साथ–साथ नहीं देखा गया है, तो किसी भी तरह से अनुपलब्धि के द्वारा अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकेगा। हालाँकि यह हर एक जगह के लिए आवश्यक नहीं है कि साध्य व हेतु पहले किसी स्थल में साथ–साथ दिखायी ही पड़े हों। आखिर केवलव्यतिरेकी अनुमान भी तो नैयायिक मानते ही हैं। तो क्या अनुपलब्धि के द्वारा अभाव का अनुमान केवलव्यतिरेकी अनुमान के रूप में नहीं व्यवस्थापित किया जा सकता? किया जा सकता, बशर्ते यह तार्किक अपेक्षाओं व लौकिक अनुभवों के साथ संगत हो। परन्तु अनुपलब्धि स्वयं भी उपलब्धि का अभाव ही है। नैयायिक अनुपलब्धि को किसी भी तरह से उपलब्धि के अभाव से ज्यादा नहीं मान सकते हैं, क्योंकि उपलब्धि का सीधा–सीधा अर्थ ज्ञान हुआ करता है। तो अनुपलब्धि का अभिप्राय ज्ञानाभाव से ही लिया जाना चाहिए। इसके निहितार्थ कहीं ज्यादा दूर तक जाते हैं। बौद्धपरम्परा ज्ञान को स्वसंवेदन मानती है। इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को अनुव्यवसायवेद्य मानते हैं। इसी कारण बौद्धों के लिए अनुपलब्धि को ज्ञानात्मक मान पाना तार्किक रूप से सम्भव हो पाता है। अगर उपलब्धि ज्ञानात्मिका होती हुई स्वसंवेद्य है, तो अनुपलब्धि को भी ज्ञानात्मिका होने के कारण स्वसंवेद्य मानने में कोई दिक्कत नहीं है। ध्यातव्य है कि यद्यपि न्यायपरम्परा ज्ञान को अनुव्यवसायवेद्य मानती है, परन्तु न्यायसूत्रों में कुछ ऐसे भी सूत्र हैं जो ज्ञान को स्वप्रकाश मानने के पक्ष में ज्यादा संगत हो सकते हैं। जैसे कि न्यायसूत्रों के द्वितीय अध्याय में प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों की सिद्धि होती है तो प्रमाणों की सिद्धि किससे होगी? इस अत्यन्त प्राचीन प्रश्न के समाधान का अन्वेषण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने के क्रम में अनेक उत्तरपक्षों का उपस्थापन करते हुए अन्त में गौतम कहते हैं कि–'कोई समस्या नहीं है, क्योंकि प्रदीपप्रकाशसिद्धि की तरह प्रमाणों की सिद्धि हो जाती है'।[14] यह बारह सूत्रों में की गयी प्रमाणपरीक्षा का अन्तिम सूत्र है। इस कारण मैं इसे सिद्धान्तसूत्र की मान्यता देना ज्यादा उचित समझता हूँ। प्रदीपप्रकाश का दृष्टान्त ज्ञान की स्वसंवेद्यता या स्वप्रकाशता का प्रतिपादन करने के लिए अन्यत्र भी प्रस्तुत किया गया है। वैदल्यसूत्र में नागार्जुन ने न्यायमत का खण्डन करने के लिए जिन मतों का उपस्थापन किया है उसमें प्रदीपप्रकाश के दृष्टान्त को भी उठाकर उसका खण्डन किया है।[15] मुझे ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रों में अभाव के ज्ञान की समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया गया है वह प्रायशः बौद्धपरम्परा द्वारा प्रस्तुत समाधान के काफी समीप है। हालाँकि न्यायपरम्परा का मान्य सिद्धान्त यह नहीं बन सका। न्यायपरम्परा ऊपर प्रदर्शित पक्ष को ही स्वीकार करती है और न्यायसूत्रकार के पक्ष को छोड़ दिया गया है। इसके मूल में दोनों सम्प्रदायों में[16] ज्ञान की स्वंसवेद्यता या स्वप्रकाशता की स्वीकृति पर्याप्त महत्त्व रखती है। बिना ज्ञान की स्वसंवेद्यता या स्वप्रकाशता को स्वीकार किये अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभाव को सिद्ध करना सम्भव दिखायी नहीं देता। वस्तुतः अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभाव की सिद्धि मुश्किल है। किया तो केवल यह जा सकता है कि हम अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा अभावज्ञान की सिद्धि करें। इसमें जो समस्या आती है, वह कुछ ज्यादा ही गम्भीर है। वह यह कि कम से कम एक स्थल ऐसा है जहाँ पर ज्ञान तो हो रहा है परन्तु विषय नहीं है। यह बात न्यायपरम्परा के इस अभ्युपगम से बिलकुल ही विपरीत जाती है कि ज्ञानभेद विषयभेद से जन्य हुआ करता है, क्योंकि इस स्थल में विषय–भेद के न रहने पर भी ज्ञान का भेद तो हो ही रहा है। यहाँ पर ज्ञान का भेद विषयभेद के बिना उत्प्रेक्षामात्र से या कल्पनामात्र से हो रहा है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस कारण विज्ञानवादी को समस्त ज्ञानों के विषयों को ज्ञानाभिन्न मानने के लिए एक आधार मिल जाता है। इसलिए उसके मत में तो इसका व्यवस्थापन सम्भव है। बौद्धपरम्परा प्रत्यक्षमात्र को कल्पनापोढ मानती है। साथ ही यह भी स्वीकार करती है कि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहारांग नहीं होता है। न केवल इतना ही अपितु अनुमान को अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति मानकर लौकिक अनुभवों की प्रामाणिकता को तो बौद्धपरम्परा तिलाञ्जलि ही दे देती है। ये समस्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार लौकिक अनुभवों के साथ संगत नहीं दिखते हैं, साथ ही यह वस्तुवादी दृष्टिकोण के साथ भी संगत नहीं दिखता है। न्यायपरम्परा सम्भवतः इसी कारण इस विषय में न्यायसूत्रकार गौतम प्रदर्शित मार्ग का परित्याग करती दिखायी देती है।

अतः अनुभववाद व वस्तुवाद के अभ्युपगमों के आलोक में अभाव का ज्ञान अनुपलब्धिहेतुक अनुमान के द्वारा हो पाना समुचित नहीं दिखता। फिर रास्ता क्या है? वस्तुतः रास्ते सीमित हैं। अभाव का ज्ञान या तो अनुमान या प्रत्यक्ष से मानना उचित दिखता है। अभाव या अनुपलब्धि को एक अलग प्रमाण मानकर उससे अभाव का ज्ञान मानने की बात तो और भी विचित्र दिखती है। कुमारिलभट्टानुसारी मीमांसक सम्प्रदाय के मानमेयोदय नामक ग्रन्थ में अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप कुछ यूँ बताया गया है कि–'उपलब्धियोग्य होने पर भी अनुपलब्ध होना ही अभाव का बोधक अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण है'।[17] वहीं पर अनुपब्धि को इस प्रकार के अभाव ज्ञान का कारण माना गया है तथा उसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अनुपलब्धि ज्ञानाभावरूप है।[18] इस कारण अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव का ज्ञान स्वीकार करने में उपर्युक्त अनवस्था आदि समस्याएँ अवश्य उपस्थित होंगी, क्योंकि कम से कम ज्ञानाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से न मानकर किसी अन्य प्रमाण से मानना होगा। हालाँकि अभाव का ज्ञान कराने के लिए अनुपलब्धि प्रमाणभूत ज्ञानाभाव के ज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि ज्ञात होकर अभाव का ज्ञान नहीं कराती है, किन्तु अज्ञात रहकर ही अभाव का ज्ञान कराती है। परन्तु अभावमात्र का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा हुआ करता है, ऐसा दावा तो खण्डित ही हो जायेगा। इसलिए अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा तो अभाव का ज्ञान होने की बात युक्तिसंगत नहीं दिखती है।

एक दूसरा मत आता है प्रभाक का। प्रभाकर अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से स्वीकार करते हैं। परन्तु अभाव को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में या अतिरिक्त प्रमेय के रूप में स्वीकारना प्रभाकर उचित नहीं मानते। बल्कि अभाव का जो अधिकरण है, अभाव अपने उस अधिकरण से अतिरिक्त नहीं है। यह प्रभाकर का मत काफी हद तक सामान्य लोकानुभव का सम्मान करता है, उसे बाधित नहीं करता। मगर इस मत की भी कुछ समस्याएँ हैं जिनकी ओर न्यायपरम्परा के आचार्यों ने संकेत किया है। प्रथमतः सामान्यतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जो लोकानुभव होते हैं कि 'मेज पर पुस्तक नहीं है' 'जमीन पर घट नहीं है', इन समस्त लोकानुभवों में अभाव का अपने अधिकरण के साथ आधाराधेयभाव बोधित होता है। यह आधाराधेयभाव अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर नहीं व्यवस्थापित किया जा सकता।

द्वितीयतः इन्द्रियों के साथ विषयों के ग्रहण का अन्वयव्यतिरेकानुविधायित्व दिखायी देता है, चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप और रूपवान द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है, अन्य स्पर्शादि का नहीं, घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष होता है, रूपादि का नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के साथ भी इसी प्रकार की बात देखी जा सकती है। वायु में न तो गन्ध है, न तो रूप है। परन्तु प्रभाकर के अभ्युपगम के आलोक में तो अभाव अपने अधिकरण से तो भिन्न है नहीं। वायु में रूप का अभाव भी है, तथा गन्ध का अभाव भी है। नियम यह है कि रूपाभाव का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा तथा गन्धाभाव का ग्रहण घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। रूपाभाव को घ्राणेन्द्रिय के द्वारा तथा गन्धाभाव को चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। परन्तु अभाव यदि अपने अधिकरण से भिन्न नहीं है तो रूपाभाव भी अपने अधिकरण वायु से अतिरिक्त नहीं है, साथ ही गन्धाभाव भी अपने अधिकरण वायु से अतिरिक्त नहीं है। इस कारण अगर घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गन्ध का अभाव वायु में जाना जा रहा है तथा चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप का अभाव वायु में जाना जा रहा है। तो दोनों ही स्थितियों में एक ही वस्तु दोनों इन्द्रियों के द्वारा गृहीत हो रही है, यह मानना होगा, जो कि किसी भी तरह अनुभव के साथ संगत नहीं दिखायी देता है। इस स्थिति में तो गन्धाभाव का ग्रहण भी चक्षु से होना चाहिए, तथा रूपाभाव का ग्रहण भी घ्राणेन्द्रिय से होना चाहिए, क्योंकि इस स्थिति में ये दोनों तो एक ही वस्तु हैं। प्रभाकर के मत में यह आपत्ति समाहित नहीं हो सकती है। इस कारण नैयायिक अभाव को अधिकरण से अतिरिक्त मानने का पक्ष रखते हैं।

परन्तु नैयायिकों के अनुसार अभाव को अधिकरणात्मक न मानकर अतिरिक्त मान लेने पर व उस अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, यह मान लेने पर समस्यायें किन्हीं अन्य रास्तों से आती दिखती हैं। न्यायसूत्रकार ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते हुए प्रत्यक्ष के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य होने की अनिवार्यता पर बल दिया है।[19] परवर्ती नैयायिकों ने ईश्वरप्रत्यक्ष से भिन्न सभी प्रत्यक्षों की अनिवार्य शर्त के रूप में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व को स्वीकार किया है। ईश्वरप्रत्यक्ष को तो वस्तुतः प्रत्यक्ष न होते हुए भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्यक्षसदृश होने के कारण प्रत्यक्ष माना गया है। तो किस प्रकार से अभाव के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष का सम्पादन किया जाये? यह एक सबसे बड़ा प्रश्न न्यायवैशेषिकपरम्परा के सामने खड़ा था। न्यायवार्तिक में इसका समाधान उद्योतकर विशेष्यविशेषणभाव को अभावप्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष के रूप में प्रस्तुत कर देने का प्रयास करते हैं। इस विषय में लम्बे विवेचनों के क्रम में यह सिद्धान्तित किया गया है कि वस्तुतः विशेष्यविशेषणभाव एक सम्बन्ध नहीं है अपितु विशेष्यता और विशेषणता को– संयोग, समवाय आदि जो पाँच सम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिए स्वीकारे जाते हैं,–उनके साथ जोड़कर दस सन्निकर्ष और विशेष्यता व विशेषणता भी स्वतन्त्र रूप से अभावप्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष के रूप में स्वीकार करते हुए द्वादश सन्निकर्ष स्वीकार्य हैं।[20] प्रत्यक्ष के उपपादन के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की अनिवार्यता की बात स्वीकार करने के कारण नैयायिकों के लिए अभावप्रत्यक्ष के लिए भी सन्निकर्ष का स्वीकार अनिवार्य है, अन्यथा अभाव का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सम्भव नहीं होगा।

अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा इस प्रकार से स्वीकारने की कोशिश उन्हें अनानुभविक लग सकती है, जो न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों से सुपरिचित नहीं हैं। परन्तु यह समस्त अभ्युपगम आनुभविक अभ्युपगमों पर ही आधारित है, यह बात तब सुस्पष्ट हो जायेगी जब यह जानने का प्रयास करें कि यह विशेषणता या विशेष्यता आखिर क्या बला है? यह विशेषणता या विशेष्यता स्वरूपसम्बन्धविशेष ही हैं। विशेषणता और विशेष्यता को स्वरूपसम्बन्धविशेष कहने का आशय यह है कि विशेषणता और विशेष्यता विशेषण या विशेष्य से अतिरिक्त नहीं है। सार रूप में कहा जा सकता है कि स्वरूपसम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से भिन्न नहीं होता है। वस्तुतः नैयायिकों का अभिमत यह है कि अभाव तो अतिरिक्त पदार्थ है परन्तु अभाव का अपने अधिकरण के साथ जो सम्बन्ध है वह अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। अभाव का अपने अधिकरण के साथ स्वरूप सम्बन्ध है, यह स्वरूप–सम्बन्ध भूतलादि रूप अधिकरण से अतिरिक्त नहीं है। 'स्वरूपसम्बन्ध उसको ही कहा जाता है जो दूसरे किसी सम्बन्ध के बिना ही विशिष्टप्रतीति को उत्पन्न करने में सक्षम हो'।[21] सम्बन्धों की सत्ता का खण्डन करने के लिए प्राच्य व पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं में अनवस्था की बात उठाई गई है, नैयायिक स्वरूप सम्बन्ध को स्वीकार कर उन समस्त आपत्तियों का समाधान करने में भली

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार से सफल हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि सभी जगहों पर किसी के भी वैशिष्ट्य का प्रत्यय सम्बन्धों के द्वारा ही होता है, परन्तु सर्वत्र उन सम्बन्धों के वैशिष्ट्य के प्रत्यय के लिए उन सम्बन्धों का भी अपने सम्बन्धियो के साथ कोई सम्बन्ध हो यह आवश्यक नहीं है। इस कारण सम्बन्धधारा दो–तीन सोपान तक जाकर ही विराम ले लेती है। इस तरह इन्द्रियों के साथ अभाव का सन्निकर्ष होने के लिए बस इतना आवश्यक है कि इन्द्रिय का उस अभाव के अधिकरण के साथ सन्निकर्ष हो जाये। इन्द्रिय का उस अभाव के अधिकरण के साथ सन्निकर्ष हो जाने मात्र से ही अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि अभाव का अपने अधिकरण के साथ स्वरूप–सम्बन्ध ही है, प्रतियोगी का अनधिकरणकालीन जो देश है, तद्देशात्मक ही अभाव का सम्बन्ध है।[22] यह स्वीकार किसी भी तरह से न तो अनानुभविक है और न ही अनुभवविरुद्ध लगता है। यह उसी परिस्थिति में अनुभवविरोधी व अनानुभविक लग सकता है, जब हम स्वरूप–सम्बन्ध को भी अन्य सम्बन्धों की तरह समझ लेते हैं। परन्तु उपर्युक्त उद्धरणों व विवेचन के आलोक में स्वरूपसम्बन्ध व अन्य सम्बन्धों में एक खास तरह का अन्तर किया जाना अनिवार्य है, उस अन्तर को दृष्टिगत रखने पर अभावज्ञान की समस्या का वही हल सबसे अधिक आनुभविक लगेगा जो नैयायिकों ने प्रस्तुत किया है, ऐसा मुझे लगता है।

दर्शन एवं धर्मविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *नाभावप्रामाण्यम्, प्रमेयासिद्धेः। न्यायसूत्र 2–2–7*
2. *संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तदभिन्नं ज्ञानमनुभवः। तर्कसंग्रह, प्रत्यक्षखण्ड*
3. *प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् प्रत्यक्षानन्तरं बहुवादिसम्मतत्वाच्चोपमानात् प्रागनुमानं निरूप्यते। तत्त्वचिन्तामणि, अनुमानखण्ड प्रथम वाक्य*
4. *स द्विविधः–दृष्टादृष्टार्थत्वात्। न्यायसूत्र 1–1–8*
5. *लौककपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स द्रष्टान्तः। न्यायसूत्र 1–1–25*
6. *न चतुष्ट्वम्–ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्। न्यायसूत्र 1–2–1*
7. *शब्द ऐतह्यानर्थान्तरभावाद अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः। न्यायसूत्र 2–2–2*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

8. 'अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारप्रसाधनी' 2–28 तथा वहीं पर अग्रिम सूत्र के द्वारा धर्मकीर्ति कहते हैं कि 'तस्या एवाभवनिश्चयात्' 2–29' न्यायबिन्दुप्रकरण। यहाँ एकादश प्रकार की अनुपलब्धियों का विवेचन किया गया है, तथा उनसे ही अभावज्ञान व अभावव्यवहार का साधन किया गया है।
9. तेन न घटाभावः साध्यः अपितु अभावव्यवहार इत्युक्तम्, धर्मोत्तरकृता न्यायबिन्दुटीका पृ. 64, न्यायबिन्दुप्रकरणम्, विनीतदेव – धर्मकीर्तिटीकाद्वयसहितम्, बौद्धभरती, वाराणसी 1994
10. अत एकज्ञानसंसर्गी दृश्यमानोऽर्थस्तज्ज्ञानञ्च प्रत्यक्षनिवृत्तिरूच्यते। धर्मोत्तरकृता न्यायबिन्दुटीका 64, वहीं।
11. अभावव्यवहारस्तु 'इह घटो नास्ति' इत्येवमाकारं विज्ञानम्, तदभिधानम्, निःशंकप्रदेशादौ गमनलक्षणा प्रवृत्तिश्च। ज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणो व्यवहारः साध्यतेऽनयेति अभवव्यवहारसाधनी। पृ.64–65, न्यायबिन्दुविस्तर, लेखक– विनीतदेव, वहीं।
12. नार्थोऽसंवेदनः कश्चिदनर्थं वापि वेदनम्। दृष्टं संवेद्यमानं तत् तयोर्नास्ति विवेकिता।।
तस्मादर्थस्य दुर्वारं ज्ञानकालावभसिनः।
ज्ञानादव्यतिरेकित्वम्..... ।। प्रमाणवार्तिक 2–390,399
13. कस्यचित् किंचिदेवान्तर्वासनायाः प्रबोधकम्।
ततो धियां विनियमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया।। प्रमाणवार्तिक 2–336
14. न–प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः। न्यायसूत्र 2–1–19
15. द्रष्टव्य–वैदल्यसूत्र, सम्पादित–सैम्पा दोर्जे, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
16. बौद्धपरम्परा में मान्यरूप में तथा न्यायपरम्परा में केवल न्यायसूत्रों में इसकी स्वीकृति पायी जा सकती है। न्यायपरम्परा के अनेक विद्वान् मेरी इस बात से भी सहमत नहीं होंगे कि न्यायसूत्रों में ज्ञान के स्वप्रकाशता की बात स्वीकार की गयी है। इसका कारण यह है कि वात्स्यायन से लेकर आगे की पूरी न्यायवैशेषिकपरम्परा'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' न्यायसूत्र–2–116 से संगति रखते हुए ज्ञान व प्रमाणें की ज्ञानान्तरसंवेद्यता का सिद्धान्त विकसित करती है। जबकि मुझे ऐसा लगता है कि 'प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्' सूत्र के द्वारा जो पक्ष गौतम के द्वारा उठाया गया था, उसको अन्य आक्षेपों के आलोक में स्वयं गौतम ने खण्डित कर दिया है। इसका कारण यह है कि इस सूत्र के द्वारा न्यायसूत्रकार ने यह पक्ष रखा था कि 'प्रमाण प्रमेय भी हो सकते हैं जैसे अन्य वस्तुओं को तौलने के लिए उपयोग में आनेवाली तुला स्वयं किसी अन्य तुला के द्वारा तौली जाती है'। परन्तु इसके अग्रिम सूत्र 'प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरतासिद्धिप्रसंगः' 2–1–17 के द्वारा गौतम इसके ऊपर सवाल खड़ा कर देते हैं कि 'अगर प्रमाणों की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा होती है, तो प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती है तो प्रमेयों की सिद्धि भी प्रमाणों से ही होती है, इसका कोई समुचित आधार नहीं बनता' 'तद्विनिवृत्तेर्वा? प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः' 2–1–18। इसी प्रश्न का तार्किक समाधान' न–प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः' 2–1–19 सूत्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत करता है। मुझे यह स्वीकार करना ज़्यादा उचित दिखता है कि नागार्जुन के द्वारा वैदल्यसूत्र व विग्रहव्यावर्तनी में उठाये गये आपेक्षों के आलोक में वात्स्यायन आदि ने न्यायशास्त्रीय सिद्धान्तों को ज़्यादा सुचिन्तित आधार देने का प्रयास किया है।

17. अथोपलम्भयोग्यत्वे सत्यप्यनुपलम्भनम्। अभावाख्यं प्रमाणं स्यादभावस्यावबोधनम्। पृ. 133, मानमेयोदय, लेखक–नारायण, सी. कुन्हन राजा व एस.एस. सूर्यनाराणशास्त्री की आंग्ल व्याख्या के साथ, प्रकाशक–अड्यार पुस्तकालय व अनुसन्धान केन्द्र, मद्रास द्वितीय संस्करण सन्–1975

18. अत्र ह्यनुपलम्भः करणम्। तस्य च ज्ञानाभावरूपत्वादभावः प्रमाणमित्युच्यते। पृ. 134, वहीं।

19. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। न्यायसूत्र 1–1–4

20. इस विषय में विशेष विवेचन के लिए लेखक का आलेख 'न्यायदर्शन में इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद' द्रष्टव्य है। जो कि 'भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद' नामक पुस्तक में संगृहीत है। सम्पादक–अम्बिकादत्त शर्मा, प्रकाशक–विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, सन्–2006

21. सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धत्वात, तत्त्वचिन्तामणि, लेखक – गंगेशोपाध्याय, पृ.964 रूचिदत्तमिश्रकृतप्रकाश व रामकृष्णाध्वरिन् कृत न्यायशिखामणिसहित, सम्पादक–एन.एस. रामानुज ताताचार्य, प्रकाशक–केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठ, तिरूपति 1973

22. एवञ्च तत्तत्कालीनं तत्तदभूतलादिकं तत्तदभावानां सम्बन्धः। पृ. 91–92, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिकावली न्यायसिद्धान्तमुक्तावली–दिनकरी–रामरूद्रीसहित, चौ.सं.सी आफिस।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हिन्द स्वराज और कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का पुनर्पाठ

मार्क्स, गाँधी और हाईडेग्गर कृत आधुनिक सभ्यता की पर्यालोचना

अम्बिकादत्त शर्मा

सभ्यता के आरंभ से ही मनुष्य जीवन और जगत् के विषय में आदर्श दृष्टिकोण और परिकल्पनाओं को प्रस्तुत करता रहा है। मानव–स्तर पर आत्मचेतन हुए चेतना के लिए यह अस्वाभाविक भी नहीं है। भारतीय परम्परा में भी सभ्यता, संस्कृति और नीति विषयक आदर्श दृष्टिकोणों का न केवल समृद्ध बल्कि प्राचीनतम इतिहास मिलता है। रामायण, महाभारत, मनु, कौटिल्य, भीष्म और शुक्र तथा विदुर–कामन्दक इत्यादि में एतद्विषयक चिन्तन के आदर्शवादी गुण–सूत्र स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। सही अर्थों में इन्हें 'नो प्लेस' के अर्थ में UTOPIANS भी नहीं कहा जा सकता बल्कि 'गुड प्लेस' के अर्थ में इन्हें EUTOPIANS कहना ज्यादा उचित होगा। परंतु विडम्बना यह है कि सभ्यता, संस्कृति और नीति विषयक पश्चिमी चिन्तन का जिस तरह प्रचार–प्रसार हुआ, उसमें भारतीय चिन्तकों के बुनियादी और आदर्शवादी संकल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान ही नहीं है। इसके लिए पश्चिम के प्राच्यविदों के ओरियेण्टलिस्ट मिशन को ही एक बारगी जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता। जिम्मेवार तो हम सभी हैं जिन्होंने योग्य उत्तराधिकार भाव से अपनी वाङ्निधि के मूल्यवान तत्त्वों को दुनिया के सामने उस तरीके से प्रदर्शित ही नहीं किया। ध्यातव्य है कि सन् 2000 यानि सहस्त्राब्दि वर्ष के उपलक्ष्य में याक बारजून ने 'फ्रॉम डाउन टु डिकेडेन्स : 500 हण्ड्रेड इयर्स ऑफ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ नामक एक महत्त्वाकांक्षी विश्वइतिहास ग्रंथ का प्रकाशन किया था। 1 इस विशाल ग्रंथ में नब्बे वर्षीय लेखक ने सभ्यता, संस्कृति के वैश्वीय संदर्भों पर अपने लम्बे अनुभवों को बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया है। इस ग्रंथ में एक लम्बा और रोचक अध्याय है – The Eutopian जिसमें दुनियाभर के युटोपिया चिन्तन की खोज–खबर ली गई है, परंतु कहीं भारतीय चिन्तकों का नामोनिशान भी नहीं है। याक बारजून ने इस अध्याय में मार्क्स–ऐंजिल्स के 'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' पर विस्तार से चर्चा की है लेकिन महात्मा गाँधी के 'हिन्द–स्वराज'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को सन्दर्भित भी नहीं किया है। द्रष्टव्य है कि 19वीं 20वीं शताब्दी में आदर्श परिकल्पना की दृष्टि से हिन्द स्वराज को कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो से किसी भी तरीके से कम नहीं आंका जा सकता, चाहे दोनों दस्तावेजों पर उनकी कार्ययोजनाओं अथवा सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से ही क्यों न विचार किया जाये। अतएव यहाँ हम कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो और हिन्द स्वराज को आमने–सामने रखकर दोनों दस्तावेजों की कार्ययोजना और उससे सम्बन्धित कुछ उदि्दष्ट संकल्पनाओं के सन्दर्भ में तुलनात्मक विमर्श करने का प्रयास करेंगे। अवधेय है कि मार्क्स–ऐंजिल्स का कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो अपने विचार परम्परा की एक उत्तरवर्ती रचना है जिसकी अवधारणत्मक आधारशिला पहले से ही स्पष्ट की जा चुकी थी लेकिन गाँधी जी का हिन्दस्वराज उनकी एक प्रारम्भिक रचना है और उसके निहितार्थों का स्पष्टीकरण वे आजीवन करते रहे। इसलिए दोनों दस्तावेजों पर तुलनात्मक विमर्श के लिए न केवल मार्क्स और गाँधी जी के सम्पूर्ण चिन्तन को परिप्रेक्ष्य में रखना होगा बल्कि कुछ समकालीन और बदलते हुए वैचारिक परिदृश्यों के सन्दर्भ में भी विचार करना अपेक्षित होगा। हम अपने इस छोटे से प्रयास में, हिन्द स्वराज के सौ वर्ष पूरे होने पर, यथासम्भव ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

I

कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स द्वारा जब पहली बार सन् 1848 में जर्मन भाषा में 'मैनिफेस्टो ऑफ दी कम्यूनिस्ट पार्टी' प्रकाशित हुई तो दुनिया को बदलने वाली पुस्तक के रूप में इसका व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ। इसने उस समय संसार की सबसे अधिक बिकने वाली पुस्तक के रूप में स्थान प्राप्त किया। वस्तुतः जिस आह्वान के साथ मार्क्स ने इसे प्रस्तुत किया था, तत्कालीन यूरोप में इसके स्वागत का मनस्तत्व पहले से ही तैयार हो चुका था। इसकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पहले से ही एक सशक्त विचारधारा का स्वरुप ले चुकी थी। इसके विपरीत महात्मा गाँधी ने सन् 1909 में जब प्रथमतया हिन्द स्वराज को गुजराती भाषा में पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत किया तो भारतीय जनमानस में यह उतना प्रचारित नहीं हुआ, बल्कि कुछ अंग्रेज शासकों को ऐसा अवश्य ही प्रतीत हुआ कि यदि इस छोटी सी पोथी का अधिक प्रचार–प्रसार हुआ तो भारतीय जनमानस में ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध की आग तेजी से भड़क सकती है। इसी अन्देशे में तत्कालीन बम्बई सरकार ने इस पुस्तक को प्रतिबन्धित कर दिया था। इस प्रतिबन्ध के प्रत्युत्तर में और कैलेन बैक के पढ़ने के लिए गाँधी जी ने 1912 में इसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। वस्तुतः इस पोथी में हिन्दुस्तान के स्वराज के आधारभूत ढ़ाँचे को एक वैकल्पिक सभ्यता बोध के रूप में जिस सहजता और मौलिकता के साथ गाँधी जी ने प्रस्तुत किया था वह तत्कालीन भारतीय जनमानस को उतने गहराई से प्रभावित कर भी नहीं सकता था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से भारतीयों में जिस राजनैतिक अस्मिता की चेतना जगी थी, उसमें अपनी सभ्यता और संस्कृति के क्षरण की चेतना सम्मिलित ही नहीं थी। गोखले ने तो हिन्द स्वराज पर टिप्पणी करते हुए यहाँ तक कहा था कि इस पोथी में गाँधी जी के विचार इतने अनगढ़ हैं कि एक साल के बाद वे इसे स्वयं ही नष्ट कर देना चाहेंगे। दूसरी तरफ जिराल्ड हर्ड ने कहा था कि यह गाँधी जी के द्वारा यह एक प्रयोग की शुरूआत है और इसका महत्त्व युगों तक कायम रहेगा। इस प्रकार जो भी हो, ये दोनों दस्तावेज अपने प्रस्तुत होने के साथ ही एक युगान्तकारी दस्तावेज होने के संकेत देने लगे थे। ये दोनों दस्तावेज अपनी बनावट में सैद्धान्तिक विवेचन होने के साथ–साथ उसे क्रियान्वित और चरितार्थ करने की कार्ययोजनायें भी प्रस्तुत करते हैं। इनमें सैद्धान्तिक विवेचन पार्श्व में है और कार्ययोजना मुखर रूप से सामने आई है। इस कारण ये दोनों दस्तावेज प्रथम दृष्टया सामान्य अदीक्षित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए प्रतीत होते हैं। मैनिफैस्टो के पार्श्व में जो सैद्धान्तिक दृष्टि कार्य कर रही थी, वह द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में पूरे तौर से अनावृत हो चुकी थी; लेकिन हिन्द स्वराज के पार्श्व में जो दार्शनिक दृष्टि कार्य कर रही थी, वह स्पष्ट रूप से अनावृत नहीं थी। वह तो एक बोधि के रूप में मानों बुद्ध–पुरूष के मुख से सहज ही प्रस्फुटित हुई थी। आज भी गाँधी जी के हिन्दस्वराज को उसके सम्पूर्ण निहितार्थों और निष्पत्तियों के साथ उदघाटित करने के लिए एक ऐसे व्याख्याकार की जरूरत है जो वास्तव में उसपर एक महाभाष्य लिख सके। यद्यपि गाँधी जी ने अपने जीवन में जो कुछ भी कहा और लिखा, वह सबकुछ हिन्द स्वराज की व्याख्या ही कही जा सकती है लेकिन फिर भी वह गाँधी वाङ्मय स्वयं गाँधी जी की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं।

द्रष्टव्य है कि कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो और हिन्द स्वराज के उद्देश्य, साधन और फल में कितनी भी भिन्नता क्यों न रहीं हो लेकिन दोनों में अपने–अपने नजरिये के प्रति अखंड प्रामाणिकता और प्रचंड आत्मविश्वास दिखाई पड़ता है। इसलिए तमाम टीका–टिप्पणियों के बीच और बदलती हुई परिस्थितियों के बावजूद मार्क्स अपने मैनिफेस्टो और गाँधी जी अपने हिन्द

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वराज में किसी प्रकार के संशोधन,परिवर्द्धन के लिए तैयार नहीं थे। मैनिफेस्टो के विविध अनुवादों और अन्यान्य संस्करणों की भूमिकायें मार्क्स और ऐंजिल्स ने ही लिखी थीं। मार्क्स के जीवनकाल में मैनिफेस्टो का अन्तिम संस्करण 1882 में प्रकाशित हुआ था। द्रष्टव्य है कि 1848 से 1882 तक यानि इन 34 वर्षों में लेखक द्वय के द्वारा मैनिफेस्टो में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। 1872 में मैनिफैस्टो के एक जर्मन संस्करण की भूमिका में लेखक द्वय ने यह लिखा भी है कि "मैनिफेस्टो तो अब एक ऐतिहासिक दस्तावेज हो गया है जिसे बदलने का अब हमें कोई अधिकार नहीं रह गया है।"यह बात अलग है कि मार्क्स के बाद लेनिन और माओ ने मार्क्सवाद में कुछ सैद्धान्तिक एवं कार्ययोजनागत परिवर्द्धंन किये हैं। ऐसे ही उल्लेखनीय है कि गाँधी जी ने भी हिन्द स्वराज में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता कभी भी महसूस नहीं किये। 1921 में हिन्द स्वराज के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना लिखते हुए उन्होंने कहा था कि "यह पुस्तक मैंने 1909 में लिखी थी। आज 12 वर्ष के मेरे अनुभव के बाद भी मेरे विचार जैसे उस समय थे, वैसे आज भी हैं। हाँ, मिलों के सम्बन्ध में मेरे विचारों में इतना परिवर्तन हुआ है कि हिन्दुस्तान की आज की हालत में मैन्चेस्टर के कपड़े के बजाय हिन्दुस्तान की मिलों को ही प्रोत्साहन देकर अपनी जरूरत का कपड़ा अपने देश में ही तैयार कर लेना चाहिए"। पुनः 1938 में गाँधी जी ने अपने द्वारा भेजे गये एक संदेश[2] में कहा था कि" हिन्द स्वराज पुस्तक अगर आज मुझे फिर से लिखनी हो तो कहीं–कहीं मैं उसकी भाषा बदलूंगा। इसे लिखने के बाद जो तीस साल मैंने अनेक आंधियों में बितायें हैं, उनमें मुझे इस पुस्तक में बताये विचारों में फेरबदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला"। वस्तुतः अपने विचारों के प्रति अडिग रहना और अपने विचारों में अच्छे परिवर्तन के लिए तैयार रहना, दोनों ही अपने–अपने तरीके की बौद्धिक ईमानदारी है लेकिन मार्क्स और गाँधी जी दोनों ही सामान्यं जन की अकादमिक ईमानदारी से ऊपर की बोध भूमि के व्यक्ति थे। गाँधी जी ने तो हिन्द–स्वराज के बाद भी बहुत लिखा और अवान्तर प्रसंगों में बहुत कुछ कहा लेकिन उनकी प्रारम्भिक रचना हिन्द स्वराज को सन्दर्भ बनाकर उनके हिन्दस्वराजोत्तर विचारों में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध दिखा पाना असम्भव जैसा है। आज गाँधी जी के विषय में बहुत कुछ ऐसा भी लिखा जा रहा है जो उन्हें निन्दित रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः चेतना की उच्च भूमि पर स्थित व्यक्ति का मूल्यांकन जब साधारण चेतना के धरातल की कसौटियों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर किया जाता है तो ऐसी भूलें स्वाभाविक रूप से हो जाया करती हैं। हम यह भूल जाते हैं कि चेतना के दो भिन्न धरातल पर उन्मीलित दृष्टियों की अर्थवत्ता और तदनुरूप कर्म की कर्मवत्ता एक जैसी नहीं होती, भले वे उपर से देखने में कितने भी समान क्यों न लगें।

II

कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो और हिन्द स्वराज दोनों के विचार–विधान और अपनी बातों के कहने के ताने–बाने बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं। समकालीन परिस्थितियों के विश्लेषण, उनका कारणात्मक विवेचन और उनसे त्राण पाने के उपायों का संकेत दोनों विचार–प्रबन्धों की शैलीगत विशेषता कही जा सकती है। परन्तु दोनों दस्तावेजों के निदानपरक कार्य–क्षेत्रों का सन्दर्भ अलग–अलग रहा है। मैनिफेस्टो का सन्दर्भ–कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से यूरोप है तो हिन्द स्वराज का हिन्दुस्तान। इस प्रसंग में यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों दस्तावेजों में अपनी कार्ययोजना को चरितार्थ करने के लिए द्विस्तरीय लक्ष्यों का निर्धारण किया गया है। इस दृश्टि से देखने पर मैनिफेस्टो का सन्दर्भ 'यूरोप' और हिन्दराज का सन्दर्भ 'हिन्दुस्तान' उनके प्राथमिक लक्ष्य से सम्बन्धित है। इनका दूसरा लक्ष्य बहुत व्यापक है जो किसी देश–काल और राष्ट्र–राज्य की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ पूरी मानवता को अपने में समेट लेता है।

कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का प्राथमिक रूप से घोषित लक्ष्य है[3]–"प्रथम चरण में श्रमिक वर्ग द्वारा क्रान्ति के माध्यम से सर्वहारा को शासक के स्तर पर पहुँचना जिससे कि सही अर्थों में जनतंत्र की विजय सम्भव हो।" इसका उत्तर लक्ष्य है[4]–" सर्वहारा यदि बुर्जुआ वर्ग के साथ संघर्ष में परिस्थितियों के दबाव के कारण अपने को एक वर्ग–रूप में गठित करने को विवश होता है, यदि क्रान्ति के माध्यम से वह अपने को शासक वर्ग बना लेता है और इस प्रकार बलपूर्वक उत्पादन की पुरानी परिस्थितियों को समेट लेता है तो वह इन परिस्थितियों के साथ–साथ वर्ग विद्वेष और वर्गों के सामान्य अस्तित्व को भी समेट लेगा और तब स्वयं अपने वर्ग की प्रभुता को भी विनष्ट कर देगा"। इस तरह एक ऐसे संघ की स्थापना साकार हो सकेगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास सबके स्वतंत्र विकास का अनुषंगी होगा"। मार्क्सवादी विचारधारा में इसी को चरम लक्ष्य कहा गया है जहाँ राज्य सत्ता स्वयं अपना काम कर समाप्त हो जायेगी और वर्ग–विहीन, राज्य–विहीन, समाज की स्थापना होगी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अब यदि मैनिफेस्टो के प्राथमिक लक्ष्य के क्रियान्वयन पर विचार किया जाये तो कहा जा सकता है कि वह कुछ टेड़े–मेड़े ढ़ंग से अथवा राज्यवादी ढंग से पूरा हुआ। टेड़े–मेड़े इसलिए कि मार्क्स ने 1882 में मैनिफेस्टो के एक रूसी संस्करण की भूमिका लिखते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि यदि रूस में क्रान्ति होती है तो पश्चिम में सर्वहारा–क्रांति के लिए यह कार्य संकेत होगी जिससे दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकेंगे। परन्तु द्रष्टव्य है कि मार्क्स की आशा के अनुरूप ही लेनिन के नेतृत्व में रक्तरंजित रूसी क्रान्ति तो हुई लेकिन स्वयं रूस में ही उसका प्रभाव और अस्तित्व लगभग सात दशकों तक ही बना रहा। पश्चिम में मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुरूप कोई सर्वहारा–क्रान्ति नहीं हुई और पूर्वी यूरोप के देशों में मार्क्सवाद का प्रभाव जो फैला था वह भी जल्दी ही सिमट कर रह गया। इस तरह कहा जा सकता है कि मैनिफेस्टो का प्राथमिक लक्ष्य ही यदि अल्पायु सिद्ध हुआ तो उसके चरम लक्ष्य को यथार्थ से बहिष्कृत परिकल्पना के रूप में ही स्वीकार करना होगा। वास्तविकता भी यही है कि पूंजीवादी राज्य व्यवस्था के विकल्प के रूप में कम्यूनिज्म आज मृत अथवा मृतप्राय ही है परन्तु इसमें दो राय नहीं कि एक विचार–व्यवस्था के रूप में उसका स्थान मनुष्य की आदर्शोन्मुखी चेतना में सदैव सुरक्षित रहेगा।

अब आइये हिन्द स्वराज के द्विस्तरीय लक्ष्यों पर विचार करें। इसे स्वयं गाँधी जी के शब्दों में उपस्थापित करना ज्यादा उचित होगा। 1921 के यंग इण्डिया के जनवरी अंक में गाँधी जी ने एतद्विषयक अपने अभिप्राय को बड़े अच्छे ढ़ंग से स्पष्ट किया है–" मैं पाठकों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे ऐसा न समझें कि हिन्द स्वराज सें जिस'स्वराज' की तस्वीर मैंने खड़ी की है वैसा स्वराज कायम करने के लिए आज मेरी कोशिश भी चल रही हैं। मैं जानता हूँ कि अभी हिन्दुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ढिठाई का भास हो, लेकिन मुझे तो पक्का विश्वास है कि हिन्द स्वराज में जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खींची है, वैसा स्वराज पाने की मेरी नितान्त निजी कोशिश जरूर चल रही है। परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिन्दुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक पार्लियामेण्टरी ढ़ंग का स्वराज पाना है। रेलों और अस्पतालों का नाश करने का ध्येय मेरे मन में नहीं है, अगरचे उनका कुदरती नाश हो तो मैं उसका स्वागत करूंगा"। गाँधी जी के इस स्पष्टीकरण से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुतरां स्पष्ट है कि हिन्द स्वराज का प्राथमिक लक्ष्य हिन्दुस्तान में पार्लियामेण्टरी ढ़ंग का राजनैतिक स्वराज पाना था, जिस पार्लियामेण्टरी व्यवस्था को (ब्रिटिश पार्लियामेण्ट) गाँधी जी ने हिन्द स्वराज के प्रथम संस्करण में वैश्या पद से अभिहित किया था और बाद के संस्करणों में इस शब्द को उन्होंने हटा दिया था। हिन्द स्वराज का दूसरा अर्थात् उत्तर लक्ष्य था–वास्तविक अर्थों में स्वराज यानि सत्य, अहिंसा, प्रेम, करूणा इत्यादि सनातन मूल्यों पर आधारित एक पूर्ण सभ्यता बोध को धरती पर उतारना और इसके अवतरण के लिए प्रथम और उपर्युक्त भूमि आर्यावर्त (भारत) को बनाना, क्योंकि गाँधी जी के स्वराज–परिकल्पना के मूल में जो व्यक्ति खड़ा है वह पूरे तौर से विशुद्ध भारतीय धर्म–बोध से युक्त व्यक्ति है। यह एक व्यापकतर लक्ष्य था, क्योंकि गाँधी जी को इस सत्य का अभ्रान्त बोध था कि हिन्दुस्तान की पराधीनता वास्तव में भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध किसी एक देश की पराधीनता नहीं बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की पराधीनता हैं। वह भी ऐसी सभ्यता और संस्कृति जिसके लिए उन सभी मानव प्रवृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह, मद, मत्सरादि) से भी मुक्ति काम्य है जिन्हें अन्य सभ्यतायें न्यूनाधिक रूप से मानव–स्वभाव अथवा मनुष्य का सत्य समझती हैं। यूरोपीय सभ्यता मानव–सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई सभ्यताओं में अग्रगणी है और पराधीन भारत इसी 'ऐन्द्रिक सभ्यता' (सेन्सेट कल्चर) की चपेट में चतुर्दिक रूप से दमित हो रहा था। अपने इसी बोध के कारण गाँधी जी हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन को भारत की राजनैतिक आजादी मात्र का आन्दोलन नहीं मानते थे बल्कि अपने व्यापकतर लक्ष्य के सन्दर्भ में मानव–मुक्ति की लड़ाई कहते थे ।

इस प्रकार, अब यदि, हिन्द स्वराज के द्विस्तरीय लक्ष्यों के क्रियान्वयन पर विचार किया जाये तो उसका प्राथमिक लक्ष्य यानि पार्लियामेण्टरी ढ़ंग का राजनैतिक स्वराज तो 1947 में प्राप्त हुआ और वह कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो के प्राथमिक लक्ष्य को तुलना में अधिक टिकाऊ भी सिद्ध हुआ है क्योंकि 1947 से लेकर आज तक पार्लियामेण्टरी डेमोक्रेसी की जड़ें भारत में उत्तरोत्तर गहरी ही होती जा रही हैं। गाँधी जी की इच्छा थी कि स्वतंत्र भारत का राष्ट्रपति कोई हरिजन स्त्री हो, वह भी निकट भविष्य में कभी न कभी पूरी ही हो जायेगी। परन्तु गाँधी जी एक गहरी चिन्ता जो गोरे साहबों के बाद भूरे साहबों से थी वह आज भी बनी हुई ही नहीं बल्कि अपने हद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को पार कर चुकी है। अब जहाँ तक हिन्द स्वराज के उत्तर लक्ष्य का प्रश्न है तो आजाद भारत में पार्लियामेण्टरी स्वराज को जिस तरह लागू किया गया वह गाँधी जी के सच्चे स्वराज की परिकल्पना को चरितार्थ करने का सोपान नहीं बन पाया। गाँधी जी पार्लियामेण्टरी व्यवस्था को आजाद भारत में 'ग्राम स्वराज' के रूप में अपना कर उसे अपने उत्तर लक्ष्य 'सम्पूर्ण स्वराज'का सोपान बनाना चाहते थे। परन्तु एक विडम्बना ने सबकुछ को अन्यथा करके रख दिया। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि पंडित नेहरू, जिन पर स्वयं गाँधी जी फिदा रहते थे, जब इस देश की बागडोर सम्हाला तो उन्होंने हिन्द स्वराज की कार्ययोजना को ही मिटाकर नहीं बल्कि स्वाधीनता आन्दोलन की उस वैचारिक विरासत जो पश्चिमी अन्तराय से मुक्त थी; उसे भुलाकर आधुनिक भरत को बिलकुल अपनी आवक्ष प्रतिमा के रूप में गढ़ने का प्रयास किया। हाँ, पण्डित नेहरू ने गाँधी जी के आदर्शों का कहीं उपयोग भी किया तो केवल 'इण्टरनेशनल पीस पॉलिटिक्स' के मुखौटे के तौर पर। यशदेव शल्य ने पंडित नेहरू की इस सूरत पर टिप्पणी करते हुए उचित ही कहा है कि "अवश्य उन्हें (पंडित नहेरु) देश से प्रेम था किन्तु राजनीतिक देश से, सांस्कृतिक देश से नहीं। उनका सांस्कृतिक देश तो आधुनिक पश्चिम था– वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी संस्कृति का पश्चिम"।[5] इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स का उत्तर लक्ष्य (वर्ग विहीन–राज्य विहीन समाज) जैसे इतिहास का सत्य नहीं बन पाया वैसे ही गाँधी जी का उत्तर लक्ष्य स्वयं गाँधी के स्वराज के रूप में तो पूर्णतया चरितार्थ हुआ लेकिन वह हिन्दुस्तान का स्वराज नहीं बन पाया। अतएव कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो और हिन्द स्वराज का केवल प्राथमिक लक्ष्य ही प्रयोगभूत हुआ।

III

यद्यपि कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो का प्राथमिक लक्ष्य 'सर्वहारा का शासन' और हिन्द स्वराज का प्राथमिक लक्ष्य 'पार्लियामेण्टरी ढ़ंग का राजनैतिक स्वराज' को प्राप्त करने के तरीकों को लेकर मार्क्स और गाँधी जी के बीच प्रकटतः ही बहुत विरोध है जिसे खूनी क्रान्ति और अहिंसंक क्रांति (सत्याग्रह) केमध्य अवधारणात्मक विरोध के रूप में समझा जा सकता है। गाँधी जी मार्क्स के 'साम्य' को 'सौम्य' के शर्त पर ही न्यूनाधिक रूप में स्वीकार करने के पक्षधर थे और इस शर्त पर उन्हें मार्क्स की बहुत सी बातों को यथावत मान लेने से कोई परहेज नहीं था लेकिन स्वयं मार्क्स गाँधी जी के स्वराज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की संकल्पना और उसे प्राप्त करने के उपायों को किस रूप में और किस सीमा तक अनुमोदन करते, इस प्रश्न के उत्तर से इतिहास वंचित रह गया। यहाँ द्रष्टव्य है कि एक ओर जहाँ दोनों दस्तावेजों में प्राथमिक लक्ष्य को प्राप्त करने के उपायों को लेकर गहरा मतभेद है वहीं उत्तर लक्ष्य से सम्बन्धित उसके एक विशिष्ट पूर्वपक्ष की समझ और उसकी आलोचना को लेकर दोनों में गहरी समानता भी है । वह विशिष्ट पूर्वपक्ष है– तकनीकी विश्व दृष्टि और मशीनी सभ्यता की आलोचना, जो अपने हृदय में एक वैकल्पिक सभ्यता बोध को छिपाये हुए हैं। यद्यपि मार्क्स ने इस पूर्वपक्ष को उतनी गम्भीरता से नहीं लिया है जितनी गहराई और गम्भीरता से उसे गाँधी जी ने लिया है। गाँधी जी स्वयं इस बात को स्वीकार भी करते हैं कि ''इस किताब में (हिन्द–स्वराज में) आधुनिक सभ्यता की सख्त टीका की गई। 1909 में लिखी इस किताब में जो मेरी मान्यता प्रकट की गई है वह आज पहले से ज्यादा मजबूत हो गई है। मुझे लगता है कि अगर हिन्दुस्तान 'आधुनिक सभ्यता' का त्याग करेगा, तो उसे लाभ ही होगा।''[6] अतएव यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यंत्र प्रधान आधुनिक सभ्यता की आलोचना तो दोनों करते हैं लेकिन कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में जहाँ यह आलोचना हाशिये पर है वहीं हिन्दस्वराज में यह केन्द्र में है। मार्क्स यंत्र प्रधान वैज्ञानिक तकनीकी दृष्टि की आलोचना करते हुए किसी वैकल्पिक सभ्यता बोध की बात नहीं करते बल्कि वे आधुनिक सभ्यता में यंत्रों के अत्याचार और तज्जन्य सभ्यता की अधिकायकता से उसे मुक्त करना चाहते हैं। गाँधी जी आधुनिक मशीनी सभ्यता को उसकी पूरी ज्ञानमीमांसा के साथ निरस्त करते हैं और हमारे सामने एक वैकल्पिक सभ्यता बोध को प्रस्तावित भी करते हैं। कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में यंत्र–प्रधान उद्योगों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'आधुनिक उद्योगों ने पैतृक पद्धति से चलने वाले उस्ताद कारीगरों की छोटी सी कार्यशाला को औद्योगिक पूंजीपति के एक बड़े कारखाने में बदल कर रख दिया है। कारखाने में भरी मजदूरों की भीड़ सिपाहियों की तरह व्यवस्थित की जाती है। औद्योगिक सेना के रंगरुटों की तरह उन्हें अफसरों और सार्जेण्टों की सुघड़ व्यवस्था के अन्तर्गत रखा जाता है। वे न केवल बुर्जुआ वर्ग और उस बुर्जुआ राज्य के गुलाम हैं बल्कि दैनिक और घंटावार हिसाब से मशीन के दास बना दिये गये हैं।'[7] पुनः कुछ भिन्न आशय से मशीनी सभ्यता की आलोचना करते हुए कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में कहा गया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि "संकट के इन क्षणों में एक महामारी फैली है जो पिछले युगों में एक अनर्थकता सी लगती थी – अति उत्पादन की महामारी। समाज एक बारगी अपने को एक क्षणिक बर्बरता की स्थिति में धकेला हुआ पाता है। ऐसा लगता है जैसे किसी दुर्भिक्ष, सार्वभौम युद्ध के ध्वंस ने जीवनयापन के सभी साधनों को नष्ट कर दिया है, उद्योग व्यापार समाप्त हुए लगते हैं। यह सब क्यों ? क्योंकि सभ्यता की अधिकायत हो गई है, जीवनयान के साधन बहुत अधिक हैं, बहुत अधिक उद्योग हैं, बहुत अधिक व्यापार"।[8]

कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो के उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों से यह बात स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है कि मार्क्स का मशीन और मशीनी सभ्यता से विरोध पूंजी के केन्द्रीकरण, उत्पादन की प्रचुरता और तज्जन्य सभ्यता की अधिकायकता को लेकर है। इसे हाईपर इन्डस्ट्रीयलायजेशन और मेगा टेक्नालॉजी के प्रति अन्ततः एक परिसीमनवादी दृष्टिकोण के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मशीन और मशीनीकृत औद्योगिकीकरण की मार्क्सवादी आलोचना इस बात से संबंधित नहीं है कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है बल्कि इस बात से संबंधित है कि किस तरह से वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। इसके विपरीत इस संबंध में गाँधी जी की आलोचना यंत्रारूढ़ उत्पादन के प्रकारों और उत्पादन के तरीकों दोनों से सम्बन्धित है। यंत्रारूढ़ उत्पादन के तरीके पूंजीवाद को, अमीर–गरीब की खाई को, एक वर्ग–विशेष के शोषण को बढ़ाती है। गाँधी जी को इन सभी बातों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु गाँधी जी की आपत्ति मूलगामी प्रकार की है और वह यह कि यंत्रारूढ़ उत्पादन का प्रकार अन्ततः मनुष्य की मनुष्यता को ही बिगाड़ देता है। इसीलिए गाँधी जी बारम्बार यह कहते थे कि आधुनिक सभ्यता और आधुनिक मशीनों का प्रयोग मनुष्य को बिगाड़ने वाला है। कुल मिलाकर मार्क्स के लिए यंत्रजनित सभ्यता की अधिकायकता एक महामारी है जिसका उपचार किया जाना चाहिए परन्तु गाँधी की दृष्टि में जो सभ्यता आधुनिक मशीनों के साथ पूरी दुनिया में आताल–पाताल तक फैल रही है, वह महापाप है' और उसका सर्वथा त्याग ही किया जाना चाहिए।

IV

आधुनिक सभ्यता की आलोचना हिन्द स्वराज के केन्द्र में है, इसे स्पष्ट करने के लिए प्रकृत प्रश्न पर थोड़े विस्तार से विचार करने की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आवश्यकता है। द्रष्टव्य है कि हिन्द स्वराज में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक गाँधी जी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना बहुआयामी रूप से और विभिन्न प्रसंगों में की है। इसके अतिरिक्त हिन्द स्वराजोत्तर लेखन में भी वे विभिन्न सन्दर्भों में अपने आशय को स्पष्ट करते रहे हैं। यद्यपि उनकी आलोचना में एकस्वरता और वैचारिक दृढ़ता दोनों दिखाई पड़ती है लेकिन उनकी सीधी और सपाट शैली से न तो उसका अन्तरार्थ प्रकट हो पाता है और न ही उसके पीछे का सैद्धान्तिक आधार। अतएव गाँधी जी के तात्पर्य को खोलने के लिए उनकी आलोचनाओं पर द्विपक्षीय ढंग से विचार किया जाना चाहिए। एक पक्ष आधुनिक सभ्यता की आलोचना और दूसरा आधुनिक सभ्यता और तकनीकी के अन्तःसम्बन्ध का पक्ष। साथ ही साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि इन दोनों पक्षों पर कितने दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है।

अब यदि गाँधी जी की आलोचना के प्रथम पक्ष पर विचार किया जाय तो प्रथमदृष्टया में कोई यह कह सकता है कि हिन्द स्वराज में गाँधी जी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना जिस रूप में की है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे इस आलोचना के द्वारा भारतीय जनमानस में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति स्वाभिमान जगाना चाहते थे। वे भारतीयों के मन में यह बैठाना चाहते थे कि हम जिस पश्चिमी सभ्यता को उत्कृष्ट मानकर अभिभूत हो रहे हैं, वह वस्तुतः अभिभूत होने लायक ही नहीं है। इसीलिए वे अपनी आलोचना को सर्वथा नवीन नहीं कह कर यह मानते थे कि कुछ पश्चिमी विद्वानों (टालस्टॉय, कार्पेण्टर, थोरो और रस्किन) ने भी हमसे पूर्व में ही आधुनिक सभ्यता की आलोचनायें की हैं। अतः गाँधी जी की आलोचना अपने आप में पश्चिमी सभ्यता की स्वतंत्र और स्वायत्त आलोचना नहीं है। इसका उद्देश्य हम भारतीयों में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति (अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से) उपजी हीन भावना से उबारना था। यह बात श्री अरविन्द द्वारा लिखी गई 'फाउण्डेसन्स ऑफ इण्डियन कल्चर' से भी समर्थित की जा सकती है जो हिन्द स्वराज के आस–पास ही लिखी गई थी। श्री अरविन्द ने जहाँ पाश्चात्य प्राच्यविदों के भारतीय संस्कृति विषयक दुष्प्रचार के विरोध में अकादमिक ढंग से भारतीय संस्कृति के गुणों को उद्घाटित किया है वहीं गाँधी जी ने सीधे–सपाट शब्दों में पश्चिमी सभ्यता की आलोचना की है। अतः इन दोनों ग्रन्थों का ध्येय भारतीय नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन की सांस्कृतिक चेतना को पुष्ट करना था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु हिन्द स्वराज में गाँधी जी कृत आधुनिक सभ्यता की आलोचना का इस रूप से मूल्यांकन कि वह अपने आप में स्वायत्त आलोचना नहीं बल्कि किसी अवान्तर उद्देश्य की पूर्ति का निमित्त मात्र है; उसके अकादमिक मूल्य का अवमूल्यन करना है। गाँधी जी की आलोचना की यह प्रतिध्वनि तो हो सकती है लेकिन उसकी ध्वनि नहीं। हिन्द स्वराज की ध्वनि तो यह देखने में है कि हिन्दुस्तान किस तरह एक ऐसी सभ्यता के चपेट में आत्मविस्मृति को प्राप्त हो रहा है जिसे पैगम्बर मुहम्मद की पदावली में शैतानी सभ्यता और हिन्दू धर्म की शब्दावली में निरा कलियुग कहने में भी कोई दोष नहीं।[10] स्वयं हिन्द स्वराज पोथी की पुस्तकीय संरचना से भी इस बात को समर्थन मिलता है कि गाँधी जी की आलोचना कोई अन्तरिम आलोचना नहीं बल्कि पूरे तौर से आत्मचेतन आलोचना है क्योंकि इसके अन्तर्गत आधुनिक सभ्यता के उन सभी पहलुओं की आलोचना की गई है जिनके माध्यम से कोई सभ्यता मनुष्य के जीवन–संस्थान को चतुर्दिक रूप से व्याप्त करती है। उदाहरण के लिए हिन्द स्वराज में 'इग्लैंड की हालत' का चित्रण करते हुए गाँधी जी विशेष रूप से पार्लियामेण्टरी शासन–व्यवस्था की आलोचना करते हैं और अन्त में कहते है कि यह अंग्रेजों का दोष नहीं बल्कि उनकी आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का कसूर है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि गाँधी जी की दृष्टि में पार्लियामेण्टरी शासन–व्यवस्था अर्थात् संसदीय जनतंत्र जो बहुमत पर आधारित होती है, वह आधुनिक सभ्यता को बनाये रखने का शासनतंत्र है; क्योंकि इसके अन्तर्गत सत्यासत्य और हेयोपादेयता का एकमात्र मानदण्ड बहुमत से समर्थित होना होता है। इसके अतिरिक्त गाँधी जी रेलगाड़ी, वकील, डॉक्टर, गोलाबारूद और मशीनों की आलोचना करते हुए वस्तुतः आधुनिक सभ्यता की क्रमशः यातायात–व्यवस्था, न्याय–व्यवस्था, चिकित्सा–व्यवस्था, सामरिक–व्यवस्था और अभियांत्रिकी की भी आलोचना करते हैं तथा साथ ही साथ विकल्प के रूप में 'सच्ची सभ्यता' को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। यद्यपि गाँधी जी ने सच्ची सभ्यता की रूपरेखा को विस्तार से निरूपित नहीं किया है तथापि उनके वैकल्पिक सभ्यता बोध में धर्म–नीति पर आधारित हिन्दुस्तानी सभ्यता दृष्टि की श्रेष्ठता का भाव मूल रूप से निहित है।"[11] अपनी सभ्यता दृष्टि और आधुनिक सभ्यता के नैतिक बलाबल को रेखांकित करते हुए गाँधी जी कहते हैं कि "हिन्द स्वराज में जिस सभ्यता बोध को प्रस्तावित किया गया है वह द्वेष धर्म की जगह प्रेमधर्म को सिखाती है, हिंसा के स्थान पर आत्मबलिदान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को रखती है, पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है।[12] इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिन्द स्वराज में गाँधी जी ने आधुनिक सभ्यता की मूलगामी आलोचना करते हुए उसकी हेयोपादेयता की जाँच–पड़ताल के लिए एक व्यापक रूप–रेखा प्रस्तुत की है। यह कोई कामचलाऊ अन्तरिम आलोचना नहीं।

अब गाँधी जी की आलोचना का दूसरा पक्ष–अर्थात् 'आधुनिक सभ्यता और तकनीकी का अन्तःसम्बन्ध' उनके विचार का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण पहलू है। उनकी दृष्टि में यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है और वह महापाप है। इसलिए गाँधी जी की आज सर्वाधिक आलोचना भी इसी बात को लेकर होती है। द्रष्टव्य है कि गाँधी–चिन्तन में आधुनिक यंत्रों की भर्त्सना का मूल उनके साधन की पवित्रता के सिद्धान्त में ही निहित है, क्योंकि यंत्र प्रथम दृष्टया साधन ही हैं। यह बात अलग है कि यंत्र अपने मौलिक स्वरूप में तटस्थ साधन नहीं कहे जा सकते। यदि यंत्रों को तटस्थ साधन मानकर विचार किया जाय तो उनके दुष्परिणामों का प्रमुख दायित्व प्रयोक्ता की नैतिक चेतना पर चला जाता है लेकिन यंत्र यदि अपने आप में तटस्थ साधन मात्र नहीं हैं तो उसके दुष्परिणामों को यंत्रों के स्वरूप से ही संबंधित मानना पड़ेगा। अतएव गाँधी जी ने आधुनिक सभ्यता में मशीनों की भूमिका पर, विभिन्न प्रसंगों में विचार करते हुए, उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों से मशीनों की आलोचना की है।

प्रथमतः, यांत्रिक उपकरणों की बेवाक आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि "यंत्र तो सांप का ऐसा बिल है जिसमें एक नहीं सैंकड़ों सांप रहते हैं। पुनः वे कहते हैं कि यंत्र मरते–मरते यह कह जाता है कि मुझसे आप बचिये, होशियार रहिये। मुझसे अन्ततः आपको कोई फायदा होने का नहीं।"[13] ऐसे वक्तव्यों की प्रतिकात्मकता से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि गाँधी जी यंत्रों को स्वरूपतः उनके प्रत्यय में ही नकारने का विचार रखते थे। द्वितीयतः, उनके कुछ वक्तव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे यंत्रमात्र के विरोधी नहीं थे बल्कि यंत्रों के स्वरूप और उनके उपयोग की सीमा (हद) बांधने के पक्षधर थे। इसलिए वे कहते थे कि विज्ञान का विकास और यंत्रों के आविष्कार को लोभ का साधन नहीं बनना चाहिए।[14] तृतीयतः[15] उनके कुछ हिन्द स्वराजोत्तर स्पष्टीकरणों से ऐसा अभिप्राय निकलता है कि वे यंत्रों के उपयोग के प्रति चयनधर्मी और परिसीमनवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनकी इस दृष्टि में चयनधर्मिता का विशेषार्थ यंत्रों की प्रकृति और उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकार विषयक भेद में प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए वे शरीर, चरखा और दांत कुरेदनी को भी एक प्रकार का यंत्र मानते हैं और पुनः आगे जोर देकर यंत्रों को परखने की भी बात कहते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे यंत्र नहीं होने चाहिए जो काम न करने की स्थिति में आदमी से अंगों को जड़ अथवा बेकार बना दे। इसका तात्पर्य यह है कि गाँधी जी मनुष्य के सहयोगी यंत्र के विरोधी नहीं थे। उनका विरोध ऐसे यंत्रों से था जो मनुष्य को विस्थापित कर अपनी स्वायत्ता स्थापित कर लेते हैं। इसलिए वे कहते थे कि टेढ़े तकुवे को सीधा करने वाले यंत्र का मैं स्वागत करता हूँ लेकिन लुहार के तकुवे बनाने का काम ही समाप्त हो जाय, यह मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता। चतुर्थतः, अन्त में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि गाँधी जी सदैव इस बात को लेकर असंतुष्ट प्रतीत होते हैं कि आधुनिक सभ्यता और यंत्रों की आलोचना द्वारा जिस बात को वे लोगों के मन में बैठाना चाहते थे,उसे बैठा नहीं पाते थे। इसलिए वे महसूस करते थे कि आधुनिक सभ्यता ने बहुतायत लोगों को अपने मोह–जाल में इस तरह जकड़ लिया है कि लोगों को उससे मुक्त कर उनकी दृष्टि को सच्ची सभ्यता की ओर उन्मीलित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। मानो पश्चिमी विज्ञान ने मनुष्य को आधुनिक सभ्यता का वरदान देकर उसे अपने नागपाश में बांध दिया हो।

V

अब यदि आधुनिक सभ्यता और यंत्रों की आलोचना के सन्दर्भ में मार्क्स और गाँधी जी के विचारों की तुलना करें तो स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स की आलोचना आधुनिक सभ्यता के अन्तर्गत पनपी एक व्यवस्था (पूंजीवादी व्यवस्था) की आलोचना है जबकि गाँधी जी की आलोचना पश्चिमी विज्ञान के नेतृत्व में विकसित हो रही पूरी आधुनिक सभ्यता की आलोचना है। ऐसा भी नहीं कि गाँधी जी हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता के प्रति कोई सुधारवादी दृष्टिकोण रखते हैं, बल्कि उनकी आलोचनाओं की ध्वनि उसे एक सिरे से खारिज करने की प्रतीत होती है। इसके विपरीत मार्क्स अपने कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो में आधुनिक सभ्यता का ही एक साम्यवादी संस्करण प्रस्तावित करते हैं। जहाँ तक आधुनिक सभ्यता और यंत्रों के अन्तःसम्बन्ध का प्रश्न है तो एतद्विषयक मार्क्स और गाँधी जी की आलोचनाओं से कुछ बिन्दु जो उभरकर सामने आते हैं वे हैं तकनीकीकरण की अतिवादिता और सभ्यता की अधिकायकता का विरोध तथा मनुष्य और मशीन के मध्य मुक्त सम्बन्ध का प्रश्न। ये तीनों बिन्दु दोनों की आलोचनाओं में निहित समान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और साझे महत्त्व के कहे जा सकते हैं लेकिन तब भी दोनों की आलोचनाओं के फलितार्थ को एक नहीं कहा जा सकता। द्रष्टव्य है कि मार्क्स ने यंत्रों की भूमिका पर आलोचनात्मक रूप से विचार आधुनिक सभ्यता के एक ऐसे घटक के रूप में किया है जिसके अतिचार से पूंजीवाद को बढ़ावा मिलता है। पुनः मार्क्स अपने ई.पी.एम. में जहाँ चार प्रकार के एलियनेशन की बात करते हैं वहाँ भी एलियनेशन के मूल कारण को वे आधुनिक सभ्यता की जीवन दृष्टि में न देखकर पूंजीवादी उत्पादन की पद्धति और तज्जन्य उत्पाद्य–उत्पादक सम्बन्ध में ही देखते हैं जिसे आधुनिक अभियांत्रिकी और भी बढ़ा देती है। परन्तु गाँधी जी यंत्रों के उपयोग और उनके स्वरूप की आलोचना जिस तरह से करते हैं उसमें मार्क्स की आलोचना के सभी पक्ष समाहित तो हैं ही लेकिन उससे आगे उसमें पश्चिमी विज्ञान की अतिवादिता की आलोचना भी पूर्वगृहीत है जो अन्ततः एक वैकल्पिक विज्ञान[16] की सम्भावना में प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। पश्चिमी विज्ञान की अतिवादिता से गाँधी जी के अभिप्राय को इस तरह समझा जा सकता है कि मनुष्य के जैव भाव में ही अपने शरीर को सन्दर्भ बनाकर प्रकृति को विनियोजित करने की प्रवृत्ति मनुष्य के अविकसित से अविकसित अवस्था में भी न्यूनाधिक रूप से देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति भी एक प्रकार की वैज्ञानिक प्रवृत्ति है और इस वैज्ञानिकता का मनुष्य के जीवन के अन्य आयामों से कोई विरोध नहीं है।[17] परन्तु पश्चिमी विज्ञान आज मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा इन तीनों आयामों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है जबकि उसे शरीर–सेवा तक ही अपने कार्यक्षेत्र को सीमित रखना चाहिए और मन तथा आत्मा के आयाम जो सत्यान्वेषण और अभीप्सा के स्वतंत्र आयाम हैं; उन्हें अपने हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहिए। आज पश्चिमी विज्ञान मनुष्य के तन, मन और आत्मा को सत् विषयक अपनी नितान्त भौतिकवादी अवधारणा में घटित कर एक जीवन–दृष्टि का रूप ग्रहण कर लिया है और इस तरह वह सभी प्रकार के धार्मिक–सांस्कृतिक जीवन दृष्टियों का विस्थापक हो गया है। आधुनिक विज्ञान यदि अपनी भूमिका शरीर–सेवा तक सीमित रखे तो धार्मिक–सांस्कृतिक जीवन दृष्टियों से उसका कोई विरोध ही नहीं होगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गाँधी जी का विरोध वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं बल्कि वैज्ञानिक जीवन–दृष्टि से है। द्रष्टव्य है कि जीवन–दृष्टि अपने आप में वैज्ञानिक दृष्टि से व्यापक होती है,अतएव वैज्ञानिक दृष्टि को जीवन–दृष्टि का एक अंग होना चाहिए,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न कि सम्पूर्ण जीवन–दृष्टि। पश्चिमी विज्ञान के प्रति गाँधी जी की ऐसी ही परिसीमनवादी दृष्टि में वैकल्पिक विज्ञान का सूत्र निहित है और इसी परिसीमा में मनुष्य और विज्ञान के तकनीकी उपकरणों के मध्य मुक्त सम्बन्ध की सम्भावना भी निहित है। आधुनिक यंत्रों को पहचानने और उनका हद बांधने से गाँधी जी के तात्पर्य का मार्क्स से भिन्न यही गूढ़ार्थ है।

VI

गाँधी जी के अतिरिक्त 20वीं शताब्दी में कोई दूसरा व्यक्ति यदि आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की ऐसी मूलगामी आलोचना करता हुआ दिखाई पड़ता है तो वह है मार्टिन हाईडेग्गर। एक सभ्यता–विज्ञानी के रूप में आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के सारतत्त्व की गहरी समझ हाईडेग्गर के दार्शनिक चिन्तन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मार्क्स और गाँधी जी जहाँ तकनीकी को आधुनिक सभ्यता के एक महत्त्वपूर्ण उपकरणात्मक घटक के रूप में देखते है वहीं हाइडेग्गर की दृष्टि में तकनीकी अपने आप में एक नये प्रकार की विश्वसभ्यता की उद्‌भाविका है। ऐसी विश्व सभ्यता जो मनुष्य को उसके ही घर से बेघर कर देने वाली, दुनिया से दैवी दिप्ती को उड़ा देने वाली है।[18] इसका उद्‌देश्य 'रीजन' की अगुआई में जीवन और जगत् का पूरे तौर से लौकिकीकरण कर देना है और लौकिकीकृत जगत् के रंग–रोगन के लिए तकनीकी को विश्वकर्मा बना देना है। हाइडेग्गर के अनुसार तकनीक का अपना स्वरूप या निजी अर्थ स्वयं तकनीकी नहीं है। ऐसा माना जाता है कि तकनीक एक मानुषी कृति है;उसके उद्‌देश्यों की पूर्ति का एक तटस्थ साधन मात्र है। परन्तु यह सही नहीं है और न ही इससे तकनीक के मूलतत्त्व का पता ही चलता है। गणितीय विज्ञान और तकनीकी को प्रयोग मात्र मान लेना दोनों के तात्त्विक स्वरूप और अन्तर पर पर्दा डालना है। विज्ञान स्वयं में प्रायोगिक है। वह वस्तुजगत् का साधारण निरेपक्ष ज्ञान नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान में जिज्ञासा का स्वरूप विशुद्ध ज्ञानमात्र के लिए नहीं बल्कि सत्ता का एक विशेष रूप में आविर्भाव और वस्तुओं का एक विशेष प्रकाश में ग्रहण है। तकनीकी, वस्तुतः, सत्ता के उसी विशेष रूप को आविर्भूत करने और वस्तुओं को उसी प्रकाश में ढालने का साँचा बनती है। इसलिए तकनीक का सरभूत अर्थ है "जगत् को एक विशेष साँचे में मढ़ देना" जिसे हाइडेग्गर अपनी शब्दावली में Gestell अथवा Enframing कहते हैं। हाइडेग्गर के दर्शन का मूलभूत प्रश्न है कि "ऐसा क्यों है कि वस्तुयें हैं, ऐसा क्यों नहीं है कि वस्तुयें नहीं हैं"? यह प्रश्न वस्तुओं के होने की,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनकी भवितव्यता का प्रश्न है। तकनीक वस्तुओं के होने की निजता को ही अन्यथा कर इतिहास की एक अभूतपूर्व गति को जन्म देती है और इसकी परिणति अन्ततः मनुष्य के द्वारा सत्ता की विस्मृति में होती है। तकनीक के लिए यह सारा जगत् जैसे एक संसाधन मात्र है वैसे ही मनुष्य भी एक वस्तु ही है। तकनीक का कार्य दोनों को एक विशेष साँचे में ढालकर एक दूसरे के सम्मुख प्रस्तुत होने के लिए विवश कर देना है। हाइडेग्गर विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को एक प्रकार की नास्तिकता (टेक्नोलॉजिकल निहिलिज्म) से अभिहित करते हैं और इस नास्तिकता से जो सर्वाधिक खतरे में है, वह है मनुष्य की प्रकृति। इसने मनुष्य की समझदारी को इस कदर बदल दिया है कि उसकी मनुष्यता ही विलुप्त प्रायः हो रही है। हाइडेग्गर हमें अगाह करते हैं कि सबसे बड़ा जोखिम परमाणविक युद्ध का नहीं और न ही इसी प्रकार के किसी अन्य विध्वंसकारी तकनीक का है, बल्कि वास्तविक खतरा इस बात में निहित है कि कहीं एक दिन ऐसा न हो जाये कि जीवन और जगत् की वैज्ञानिक –तकनीकी समझ को ही समझ का एक मात्र प्रकार स्वीकार कर लिया जाये।[19] आधुनिक सभ्यता के वर्तमान दौर में वस्तुतः ऐसी ही समझ एकरेखीय रूप से स्वीकार्य हो रही है। आज मनुष्य तकनीकी के अधिभार के समक्ष असहाय सा हो कर रह गया है। यह मनुष्य की रूचि, प्रवृत्ति, प्ररेणा और समस्त अभीप्साओं को अपने ही साँचे में ढ़ालने लगा है और उसके साँचे से जो बाहर है वह सिर्फ बकवास।

अतएव हाइडेग्गर तकनीक के सार तत्त्व को समझने के उपरान्त विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को मनुष्य की समझदारी की समस्या के रूप में देखते हैं और उनकी दृष्टि में इसका समाधान भी मनुष्य की समझदारी में ही निहित है। इसलिए हाइडेग्गर के दार्शनिक चिन्तन का एक विशेष लक्ष्य विश्व के अप्रतिहत तकनीकीकरण के निहितार्थों का विश्लेषण कर तद्विषयक मनुष्य की समझदारी को बदलना है और इसके द्वारा मनुष्य को तकनीकी के साथ मुक्त सम्बन्ध के लिए तैयार करना है। हाइडेग्गर अपने एक महत्त्वपूर्ण आलेख 'दी क्वेश्चन कन्सरनिंग टेक्नोलॉजी'[20] में मनुष्य और तकनीकी के मध्य मुक्त संबंध को स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि विज्ञान और तकनीकीजन्य विकास की अनदेखी नहीं की जा सकती लेकिन उसे इस मूल्य पर स्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि वह मनुष्य के मनुष्य होने को ही अर्थहीन बना दे। मनुष्य और तकनीक के मध्य मुक्त सम्बन्ध का मतलब तकनीकी संसाधनों को मिटाना नहीं है बल्कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनका प्रयोग उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जिस सीमा तक उन्हें अत्यावश्यक ठहराया जा सके। तकनीकी के प्रति ऐसी परिसीमनवादी दृष्टि से ही तकनीकी के अनावश्यक बोझ से मुक्त जीवन की कला विकसित की जा सकती है। हाइडेग्गर अपने द्वारा दिये गये एक विश्वप्रसिद्ध साक्षात्कार[21] में इस बात को जोर देकर कहते हैं कि "तकनीकी नास्तिकता" मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं जिससे मुक्त होना संभव ही नहीं। परन्तु इससे वांछित मुक्ति किसी राजनैतिक कार्ययोजना के द्वारा संभव न हो कर 'प्रोजेक्ट ऑफ थॉट' के द्वारा संभव है। चूँकि तकनीकी ने हमारी सोच को ही बदला है, इसलिए उस सोच को ही बदलकर जीवन और जगत् के मौलिक (ओरिजिनल) स्वरूप को आत्मासात् किया जा सकता है। इस प्रकार के वैचारिक बदलाव की संभावना हाइडेग्गर जापान, रूस, चीन और भारत की प्राचीन बौद्धिक परम्परा और जीवन शैली में देखते हैं जिसे वे अपने–अपने तरीके से क्रियान्वित कर सकते हैं। परन्तु यह कहते हुए उनका यह भी मानना है कि पश्चिमी मन किसी पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने दृष्टिकोणों में इस प्रकार का आमूल परिवर्तन नहीं कर सकता जिससे कि वह निरंकुश तकनीकी नास्तिकता के चक्रव्यूह से उबर सके। यह सही है कि विचार के द्वारा विचार को बदला जा सकता है लेकिन चिन्तन की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें रूपान्तरण स्वकीय विचार परम्परा के अन्तर्गत ही घटित होकर सार्थक होता है। अस्तु, पाश्चिमात्य मन की दुर्बलता और तकनीकी नास्तिकता के प्रतिरोध की अपरिहार्यता को भांपते हुए हाइडेग्गर ने उचित ही कहा है कि 'इन्हें कोई ईश्वर ही बचा सकता है'।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि मार्क्स, गाँधी जी और हाइडेग्गर तीनों ही आधुनिक सभ्यता और उसके तकनीकी पक्ष की आलोचना अपने–अपने ढंग से करते हैं। इसमें मार्क्स की आलोचना जहाँ पूंजी को केन्द्र में रखकर की गई है वहीं गाँधी जी की आलोचना मानवीयता–केन्द्रित है और हाइडेग्गर की आलोचना मानव विषयिता–केन्द्रित है। अपनी आलोचना के द्वारा हाइडेग्गर मर्मस्पर्शी दार्शनिक तरीके से यह बता पाने में सफल होते हैं कि आधुनिक तकनीकी सभ्यता की उपलब्धियों की चकाचौंध में मनुष्य ने अपने स्वत्व को किस प्रकार खोया है। वह यह भी मानते हैं कि संसदीय जनतंत्र का राजनैतिक एजेण्डा और साम्यवाद आधुनिक सभ्यता की तकनीकी निरंकुशता का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त नहीं।[22] यदि उनकी इस टिप्पणी को मान भी लिया जाये तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस संकेतित अपर्याप्तता को गाँधी जी की आलोचना और उनके वैकल्पिक सभ्यता बोध पर लागू नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मार्क्स और हाइडेग्गर दोनों ही आधुनिक तकनीकी की आलोचना करते हुए विकल्प रूप में जीवन और जगत् की प्राक् वैज्ञानिक समझ को ही प्रस्तावित कर सकते हैं। यह उनके भारतीय न होने अर्थात् पाश्चिमात्य होने की सीमा है। परन्तु यहाँ अवधेय है कि उनके इस प्रस्ताव के मूल में मनुष्य के जीवन का संवेगात्मक पक्ष ही पुनरोद्घाटित होता है जिसे आधुनिक युग को नेतृत्व प्रदान करने वाली 'सार्वभौमबुद्धि' के द्वारा समता और स्वतंत्रता के नाम पर दबा दिया गया था। परन्तु गाँधी जी आधुनिक सभ्यता की आलोचना करते हुए विकल्प रूप में जिस सभ्यता बोध को प्रस्तावित करते हैं और अपने 'ग्राम स्वराज' की संकल्पना में उसकी एक स्पष्ट–रूप रेखा प्रस्तुत करते हैं, उसमें एक ओर आधुनिक तकनीकी की निरंकुशता का दबदबा नहीं है तो दूसरी ओर उसके आधार में मनुष्य का संवेगात्मक पक्ष न होकर एक उदात्त आध्यात्मिक प्रज्ञा है। गाँधी जी के इस सभ्यता बोध में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण, प्रकृति का विदोहन और तकनीकी द्वारा मनुष्य का वस्तुकरण तथा विस्थापन के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। अतएव निष्कर्षात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि हाइडेग्गर ने आधुनिक तकनीकी के मूलतत्त्व को जिस दार्शनिक गहराई से समझा है और उसकी आलोचना की है, उससे गाँधीजी की आलोचना को और अधिक समृद्ध किया जा सकता है लेकिन मार्क्स और हाइडेग्गर बदले में जिस विकल्प को प्रस्तावित करते हैं अथवा कर सकते हैं, वह गाँधी जी के वैकल्पिक सभ्यता बोध से सम्पुटित होकर ही सम्पूर्ण हो सकती है।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *याक बारज़ून, फ्रॉम डाउन टु डिकेडेन्स : 500 इयर्स ऑफ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ, हार्पर कालिज्म–2000.*
2. *आर्यन पथ, हिन्द स्वराज्य विशेषांक, सितम्बर 1938.*
3. *मैनिफेस्टो ऑफ दी कम्यूनिस्ट पार्टी, पृ. 70, फॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को–1948.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

4. वही – पृ. 72.
5. यशदेव शल्य, समसामयिक चिन्तायें, पृ. 72, राका प्रकाशन, इलाहाबाद
6. मोहनदास करमचन्द गाँधी, हिन्द स्वराज के बारे में, जनवरी 1921, यंग इण्डिया (यंग इण्डिया के गुजराती अनुवाद से)
7. मैनिफेस्टो ऑफ दी कम्यूनिस्ट पार्टी, वही, पृ. 51.
8. वही. पृ. 48–49.
9. गाँधी जी इस सन्दर्भ में 'महापाप' शब्द का प्रयोग हिन्द स्वराज के 'मशीनें' नामक 19 वें अध्याय में इस तरह से किया है – यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है और वह महापाप है, ऐसा मैं तो साफ देख सकता हूँ।
10. गाँधी जी हिन्द स्वराज के 13वें अध्याय में एक प्रश्न (सभ्यता कहें तो किसे कहे) के उत्तर में कहते हैं कि "मैं यह मानता हूँ कि जो सभ्यता हिन्दुस्तान ने दिखाई है, उस तक दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता। जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी चीज देखने में नहीं आई। रोम मिट्टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गई, जापान पश्चिम के शिंकजे में फंस गया और चीन का कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन हिन्दुस्तान गिरा–टूटा जैसा भी हो, आज भी अपनी बुनियाद में मजबूत है।"
11. गाँधी जी ने हिन्द स्वराज के छट्ठे अध्याय 'सभ्यता का दर्शन' नामक अध्याय में आधुनिक सभ्यता को शैतानी और कलियुगी पद से सम्बोधित किया है।
12. द्रष्टव्य – 'हिन्दस्वराज के बारे में', जनवरी 1921, यंग इण्डिया
13. सन्दर्भित दोनों वक्तव्य हिन्द स्वराज के 'मशीन' नामक अध्याय में द्रष्टव्य हैं।
14. 1924 में रामचन्द्रन और गाँधी जी के बीच हुए संवाद से।
15. वही।
16. 'वैकल्पिक विज्ञान' विषयक गाँधी जी की दृष्टि के लिए द्रष्टव्य–आशीष नन्दी, दी इन्टीमेट एनिमी : लॉस एण्ड डिस्कवरी ऑफ सेल्फ अण्डर कोलोनियलिज्म, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।
17. गाँधी जी विज्ञान के इसी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विज्ञान की प्रशंसा उसकी तीन महान उपलब्धियों के लिए करते हैं, जिसमें पहला है–अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रवृत्ति, दूसरा है–प्रकृति की गहरी समझ और तीसरा है–जीवन के संगठनात्मक पक्ष का विकास। परन्तु इस प्रशंसा को आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के उस स्वरूप की प्रशंसा नहीं समझनी चाहिए जो मूलगामी रूप से ही जीवन और जगत् के प्रति एक तकनीकी समझ को लेकर विकसित हुआ है।
18. द्रष्टव्य, Martin Heidegger's "Letter on Humanism", Where Heidegger speaks of homelessness as the destiny of the modern world within the history of being and as expressd through technology.
19. Martin Heidegger, "Memorial Address", In discourse on thinking, trans. John M. Anderson and E. Hans Freund, New York : Harper colophon Books, 1969, P.56.

...

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

20. द्रष्टव्य सी.बी.के. जॉर्ज का आलेख "टेक्नोलॉजी एण्ड दी मॉडर्न प्रेडिकामेंट हाइडेग्गर ऑन दी सेविंग ग्रेस", जे.आई.सी.पी.आर. अंक XXV-1 जनवरी–मार्च, 2008, पृष्ठ 95.

21. *See, Martin Heidegger, "Only a God Can save us : Der spiegel's Insterview with Martin Heidegger" trans. Maria P.Alter and John D.Caputo, In The Heidegger Controversy : A Critical Reader, ed. Richard wolin, MIT press, 1993, 111-113.*

22. वही–पृ. *105 Here, Heidegger states unambiguously that neither democracy nor communism could give birth to a genuine confrontation with the technological world', meaning that such a confrontation is called for.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक–समीक्षा

दी सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म - हरिशंकर प्रसाद*

अम्बिकादत्त शर्मा

सम्प्रति बौद्ध दर्शन के एक सचेष्ट अध्येता के रूप में माने जाने वाले प्रोफेसर हरिशंकर प्रसाद की यह समीक्ष्य कृति *"दी सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म"* उनकी अनेक कृतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और नवीनतम रचना है। इसे उनकी अब तक की अकादमिक साधना का सतत् वर्द्धमान प्रतिफलन कहा जा सकता है। बौद्ध धर्म–दर्शन और उसकी विश्व दृष्टि को गहराई से समझने की लगभग तीन दशकों की नितान्त वैयक्तिक परियोजना के दौरान उन्होंने जो कुछ भी अच्छा समझा और लिखा है, उन सबको इस पुस्तक में एक दूरवर्ती अन्विति लेकिन बहुत साफ–सुथरे ढंग से सम्पादित किया गया है। इस ग्रन्थ के कुल छह परिच्छेदों, सोलह अध्याया कारण सामाजिक, सांस्कृतिक विषयक आचार–संहिता मूलक नीति–चिन्तन के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। 'मग्गो' की अवधारणा का भी लोक जीवन से कोई सीधा–सीधा सम्बन्ध नहीं बनता है क्योंकि निर्वाण ही उसका, केवल और केवल, प्रयोजनभूत है। अतः निर्वाणोन्मुखी बौद्ध चिन्तन या तो नैतिक प्रश्नों के प्रति उदासीन है या फिर अपने अन्तिम प्राप्तव्य में नैतिकता का अतिक्रामी। प्रोफेसर प्रसाद का यह ग्रन्थ वस्तुतः इसी आलोचना के प्रत्युत्तर में प्रस्तुत होता है और नैतिकता विषयक बौद्ध दृष्टि की गहरी छान–बीन करता है। प्रोफेसर प्रसाद के अनुसार मानव–समाज बौद्ध दृष्टि में *'कम्यूनिटी ऑफ सफरर्स'* है और बौद्ध नीति का अनुप्रयोग और उसकी सार्थकता दुखियारे मानव समुदाय को दुःख से मुक्ति दिलाने में है। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म की देशना की है वह आदि में कल्याणमय है, मध्य में कल्याणमय है और कल्याण में भी उसका पर्यवसान होता है।

**मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2007 पृ. XVi + 600, मूल्य – 795.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपने संरचनात्मक ताने–बाने में यह समीक्ष्य ग्रन्थ एक सुचिन्तित और सुविचारित प्रस्तावना के साथ प्रारम्भ होता है। यह प्रस्तावना अपने आप में सम्पूर्ण पुस्तक की मूलाकृति को प्रस्तुत करता है। इस मूलाकृति के भी मूल में है मनुष्य की प्रकृतिवादी अवधारणा और वही राग, द्वेष और मोह से संचालित प्राकृतिक मनुष्य बौद्ध नीति का विषय है जिसे नैतिकीकृत होना है। नैतिकीकरण की इस प्रक्रिया को प्रोफेसर प्रसाद ने गुणात्मक *(वर्टिकल)* और परिमाणात्मक *(हॉरिजेन्टल)* विकास के रूप में देखा है जो बौद्ध नैतिकता पर व्यक्तिवादी होने के आक्षेप का बड़ा ही सुन्दर प्रत्युत्तर है। आरम्भिक बौद्ध दर्शन में इस विकास की पराकाष्ठा 'अर्हत' है तो महायान बौद्ध दर्शन में महाकारूणिक 'बोधिसत्व'। इसलिए प्रोफेसर प्रसाद ने प्रस्तावना को एक स्वतंत्र परिच्छेद का दर्जा दिया है और उसका शीर्षक ही रखा है *'दी सेन्ट्रलिटी ऑफ एथिक्स इन बुद्धिज्म'*। ग्रन्थ का दूसरा परिच्छेद *'बैकग्राउण्ड टू बुद्धिज्म'* पर केन्द्रित है जिसमें विद्वान् लेखक ने वैदिक, औपनिषद् और हिन्दू मूल्य–व्यवस्था की व्यापक समीक्षा की है। इस ग्रन्थ का तीसरा परिच्छेद *'बुद्धिज्म ऑन एथिक्स एण्ड कर्म'* पर आधारित है जो प्रोफेसर प्रसाद के समस्त प्रतिपादनों का हृदय जैसा है। इसके अन्तर्गत उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण अध्यायों के माध्यम से बौद्ध सम्मत मूल्य दृष्टि और नैतिक चेतना के विभिन्न पक्षों को बड़े विस्तार से उद्घाटित किया है। ग्रन्थ का चौथा परिच्छेद *'ए बुद्धिस्ट मॉडल ऑफ इन्टरकल्चरलिटी'* से सम्बन्धित है, जिसमें हिन्दू, कनफ्यूशियस और ताओ धर्म की सांस्कृतिक दृष्टि को बौद्ध सांस्कृतिक दृष्टि के आमने–सामने रखकर तुलनात्मक ढंग से अन्तरसांस्कृतिकता के प्रश्न पर विचार किया गया है। पाँचवाँ परिच्छेद *'बुद्धिज्म ऑन नॉलेज, रियलिटी एण्ड सेल्फ'* पर केन्द्रित किया गया है और इसके अन्तर्गत क्षणिकवाद और अनात्मवाद की आधारशिला पर बौद्ध प्रमाणशास्त्र की एक रचनात्मक रूप–रेखा प्रस्तुत की गई है। इसी परिच्छेद में एक अध्याय अद्वैतवेदान्त में सुषुप्ति की समस्या पर केन्द्रित है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु के लिए बिलकुल बाहरी सम्प्रत्यय जैसा है। ऐसे ही ग्रन्थ का छट्ठा परिच्छेद *''बुद्धिज्म ऑन पर्सपेक्टिव ऑफ टाइम''* पर है जिसमें पूरे चार अध्यायों के माध्यम से काल की बौद्ध और बौद्धेतर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारणा तथा लायबनित्स और न्यूटन के काल–चिन्तन पर गम्भीरता से विचार किया गया है। द्रष्टव्य है कि इन सभी बातों की चर्चा कितने भी दार्शनिक महत्त्व की क्यों न हो और प्रोफेसर प्रसाद ने उनकी विवेचना कितने ही तलस्पर्शी ढंग से क्यों न की हो, उनका इस ग्रन्थ के मूल प्रतिपाद्य से कोई लेना–देना नहीं है। अतः इस विशाल और विस्तृर्ण ग्रन्थ के केवल चार परिच्छेदों और उनके अन्तर्गत केवल नौ अध्यायों में ही विषय–वस्तु की दृष्टि से एक आन्तरिक संगति है। बाकी बचे परिच्छेदों और अध्यायों को एक पुस्तक के अन्तर्गत दूसरी ही पुस्तक के रूप में ही पुरस्कृत किया जा सकता है।

इन ग्रन्थ के प्रतिपाद्य वैशिष्ट्य के अनुसार इसमें चार परिच्छेदों और नौ अध्यायों के माध्यम से जो एक दृष्टि और एक अभिगम बारम्बार एवं बहुविध रूप से अपने को प्रमाणित करती है, वह है बौद्ध विचारधारा में नैतिकता और मूल्यचेतना की मूलगामिता। दूसरे शब्दों में कहें तो प्रोफेसर प्रसाद ने नैतिकता और मूल्यचेतना के प्रश्न को आधारभूत दृष्टि बनाकर बौद्ध चिन्तन परम्परा की अपनी समझ को इस ग्रन्थ में पूरी प्रौढ़ता के साथ प्रस्तुत किया है। वास्तव में यह अपेक्षित भी था, क्योंकि बौद्ध दर्शन के देशी–विदेशी कई विद्वानों ने मानवी–प्रस्थिति के नैतिकीकरण की बौद्ध सम्मत अवधारणात्मक योजना और उसकी विलक्षणता को संज्ञान में तो लिया है लेकिन प्रोफेसर प्रसाद ने सम्भवतः पहली बार, नैतिकीकरण की बौद्ध–दृष्टि को कुंजी बनाकर उसे जिस मूलगामिता और व्यापकता में देखने का प्रयास किया है, वह अत्यन्त ही सराहनीय और अपने आप में मौलिकता को लिये हुए है। वस्तुतः यह बौद्ध वाङ्मय को समझने की एक दृष्टि प्रदान करता है और इस दृष्टि के वैशिष्ट्य को प्रोफेसर प्रसाद ने वैदिक और ईसाई परम्परा तथा उत्तर आधुनिक सन्दर्भों में उजागर भी किया है। परन्तु नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि को कोई व्यक्ति वैकल्पिक तरीके से भी समझ सकता है। यद्यपि प्रोफेसर प्रसाद अपनी दृष्टि के प्रति रूढ़ भी नहीं हैं और देखने–समझने का उनका तरीका एक विशेष प्रकार के खुलेपन को लिए हुए है जो बौद्ध दृष्टि के सर्वथा अनुकूल भी है। इसीलिए प्रोफेसर प्रसाद की अन्तर्दृष्टि और प्रतिपादन प्रकृत विषय के पारम्परिक समझ को न केवल झकझोरता है बल्कि उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गतिशील भी करता है। परन्तु एक विशेष बात जो इस ग्रन्थ को पढ़ते हुए मैंने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया है वह यह कि प्रोफेसर प्रसाद का प्रतिपादन समझ की पुरानी ग्रन्थियों को तोड़ता तो है लेकिन एक सतर्क पाठक को कहीं न कहीं असन्तुष्ट भी छोड़ देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रोफेसर प्रसाद अपने कतिपय उदानपरक पदावलियों और उद्भावनाओं से पाठक के मन में और गहरे उतरने की जो लालच और कौतुहल पैदा करते हैं, वह जब पूरे तौर से सन्तुष्ट नहीं हो पाती तो पाठक स्वयं ही प्रोफेसर प्रसाद के साथ या उनसे आगे सोचने के लिए गतिशील हो उठता है। इसे किसी अच्छे लेखन का दोष नहीं वरन् गुण ही कहा जाना चाहिए कि वह पाठक को प्रकृत विषय पर और अधिक सोचने के लिए अपने ही साथ संलग्न करता है।

द्रष्टव्य है कि प्रोफेसर प्रसाद सम्पूर्ण बौद्ध उपक्रम और उपागम को एक 'नैतिकीकरण की वैचारिक योजना' के रूप में देखते हैं और इस पुस्तक में यही उनकी केन्द्रीय स्थापना है। इसपर किसी को आपत्ति हो भी नहीं हो सकती है क्योंकि कौन ऐसा धर्म–दर्शन और विचारधारा नहीं है जिसके पास नैतिकीकरण की कोई न कोई वैचारिक–योजना न हो। परन्तु प्रोफेसर प्रसाद नैतिकीकरण की बौद्ध योजना की मूलगामिता और वैशिष्ट्य को अभिव्यक्ति देने के लिए पूरे ग्रन्थ में बारम्बार *'एथिसायजेशन ऑफ कॉन्शसनेश,' 'एथिसायजेशन ऑफ कर्म एण्ड रिबर्थ'* और यहाँ तक कि *'एथियासजेशन ऑफ कॉस्मॉस'* जैसे भारी भरकम पदावलियों का प्रयोग करते हैं। ये पदावलियाँ सर्वथा नवीन और पर्याप्त रुप से अर्थगर्भ भी हैं। यह भी सम्भव है कि प्रोफेसर प्रसाद इन पदावलियों के माध्यम से नैतिकीकरण की बौद्ध–योजना और उसके निहितार्थों को बहुत गहरे में समझते हों, लेकिन उनके प्रतिपादनों से इनकी अर्थवत्ता उस रूप में चरितार्थ नहीं हो पाती है जितना कि ये प्रथमदृष्टया अवधारणात्मक रूप से अर्थगर्भ प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यह ग्रन्थ ऐसे अनेकों अन्तर्दृष्टियों और नवीन उद्भावनाओं से परिपूर्ण है जो अपनी स्थापनापरक प्रतिपादन के लिए लेखक से अवान्तर और अनुपूरक लेखन की अपेक्षा रखते हैं। ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप में इस प्रतिपादनात्मक न्यूनता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह प्रतीत होता है कि प्रोफेसर प्रसाद नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वैदिक, औपनिषद् और पौराणिक हिन्दू परम्परा की प्रतिक्रिया में परिभाषित करने के लिए जितना आग्रह दिखाते हैं उतनी ही रूचि वे बौद्ध दृष्टि को उसकी स्वायत्तता में उद्घाटित करने के लिए नहीं लेते हैं। इससे बौद्ध दृष्टि पर एक प्रतिप्रकाश तो पड़ता है लेकिन वह अपने प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो पाती है। विचारणीय है कि वैदिक–हिन्दू परम्परा की प्रतिक्रिया में बौद्ध दृष्टि का प्रकाशन तो तब महत्त्वपूर्ण होता जब उसके पास भी वैदिक–हिन्दू परम्परा के समानान्तर पुरूषार्थ व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, स्वधर्म व्यवस्था और ऋणत्रय तथा पंचमहायज्ञ जैसी लोक जीवन को संगठित करने वाली कोई न कोई अच्छी या बुरी व्यवस्था होती। लेकिन विडम्बना तो यह है कि श्रामण्य और निर्वाण का लोक व्यवस्था से कोई वैसा संबंध ही नहीं बनता है। यद्यपि यह बात अध्येताओं के बीच प्राचीन काल से ही विवादास्पद रही है लेकिन इसके संबंध में यहाँ अनेकों उदाहरण और बुद्ध वृत्तान्तों को प्रस्तुत करने की अपेक्षा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वयं बुद्ध कहते हैं कि लोक से हमारा विवाद नहीं है, लोक ही हमसे विवाद करता है *(लोको मया सार्धम् विवदति, नाहम् लोकेन सार्धम् विवदामी– सुत्तनिपात)*। अतः नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि के केन्द्र में वैदिक, हिन्दू या किसी अन्य प्रचलित सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था की आलोचना नहीं है। ऐसी आलोचना बौद्ध दृष्टि से प्रतिध्वनित तो हो सकती है लेकिन इसके अन्तरतम की ध्वनि कुछ और ही है। प्रश्न उठता है कि बौद्ध दृष्टि की अन्तर्ध्वनि क्या है और प्रोफेसर प्रसाद ने इसे किस रूप में समझा है ?

वस्तुतः भगवान् बुद्ध के समक्ष यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य को कैसे नैतिक बनाया जाये और इसके लिए कौन सी आचार–संहिता सर्वाधिक उचित होगी, बल्कि यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है कि आखिर मनुष्य नैतिक क्यों नहीं है? पुनः यदि मनुष्य को एक बनी–बनाई आदर्श आचार–संहिता दे भी दी जाये तो क्या इतने मात्र से वह नैतिक हो जायेगा। ऐसे आचार संहिताओं की कमी तब भी नहीं थी और आज तो बिल्कुल ही नहीं है। अवधेय है कि भगवान् बुद्ध अपने मार्ग को 'पटिशोधगामी' कहकर वस्तुतः इसी प्रश्न का उत्तर देते हैं। संक्षेप में इसका वास्तविक अभिप्राय चेतना के प्राकृतिक प्रवाह, पाशविक अभिवृत्ति और अभिमुखता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का आत्यंतिक निरोध है। क्योंकि मनुष्य की चेतना जब अपनी प्राकृतिकता और जैव बुभुक्षाओं से ऊपर उठती है तभी वह अपने होने के अर्थ और गंतव्य की जिज्ञासा के साथ औचित्यानौचित्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होती है, अन्यथा वह राग, दोष और मोह में उलझे होने को ही अपने होने का सत्य समझ रही होती है। इसके अभाव में मानवी–प्रस्थिति के नैतिकीकरण की कोई भी योजना 'अत्तदीपा' न होकर किसी परायत्त स्रोत से आदेशात्मक रूप में उसपर बाहर से थौपी ही जा सकती है। वैदिक–हिन्दू नीति और इसाई नैतिकता की आलोचना प्रोफेसर प्रसाद ने इसी दृष्टि से की है और इसके विपरीत बौद्ध नीति को अपनी शब्दावली में उन्होंने डी–ऑण्टोलाइज्ड और डी–मिस्टीफाइड एथिक्स कहा है जो बिल्कुल ही उचित है। अतएव पटिशोधगामिता ही नैतिकीकरण की बौद्ध दृष्टि का निहितार्थ है। इस अर्थ में पटिशोधगामिता न केवल आधारभूत है बल्कि उसकी पूर्वभूमि है जिसे प्रोफेसर प्रसाद अपने शब्दों में चेतना, कर्म और संसार का नैतिकीकरण कहते हैं।

अब यह बात देखने लायक है कि किस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध व्यवस्था चेतना की प्राकृतिकता के प्रतिपक्ष में ही खड़ी गई है जो मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य की कोई सामाजिक आचार संहिता प्रदान नहीं कर मूलभूत रूप में पहले–पहल मनुष्य को नैतिक होने की पात्रता प्रदान करती है। यह पटिशोधगामी बौद्ध दृष्टि मनुष्य को जिस रूप में नैतिकं होने की पात्रता प्रदान करती है उससे वह किसी भी आचार–संहिता–बद्ध नैतिक व्यवस्था को उसके आदर्श स्वरूप में आत्मसात् कर सकता है। बौद्ध दृष्टि इसी अर्थ में आर्य दृष्टि है और उसके आर्यत्व की यही पहचान है। अवधेय है कि अप्पदीपो भव और सत्काय दृष्टि के निरोध की अन्विति भी इसी पटिशोधगामिता से बनती है। बौद्ध परम्परा में योनिशः, अयोगिशः मनसिकार पूर्वक धर्मप्रविचय तथा चित्त चैतसिकों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण का जो अत्युच्च विभज्यवादी प्रयास किया गया है, उसका निहितार्थ भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह और उसकी अवस्थाओं को (जिसमें राग, दोष और मोह आदि के बहुविध रूप उत्पन्न होते हैं) पुंखानुपूंख समझकर उनसे निवृत्ति पाने के सूत्र खोजने में ही निहित है। माध्यमिकों की 'सर्वदृष्टि प्रहाण' जिसे प्रोफेसर प्रसाद ने *'एथिकल हॉलिज्म ऑफ एम्पटीनेश'* कहा है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह भी चेतना के प्राकृतिक प्रवाह में बनने वाली यावत् दृष्टियों को विखण्डित कर पटिशोधगामी चित्तभूमि पर ही खड़ा होता है। ऐसे ही शील, समाधि और प्रज्ञा तथा ब्रह्मविहार एवं पारमितायें इत्यादि सबके सब चेतना के प्राकृतिक प्रवाह की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतिपक्ष रूप चित्तभूमि के रूप में ही परिभाषित किये गये हैं। अतः बौद्ध धर्म–दर्शन की मूलभूत पटिशोधगामी दृष्टि वास्तव में एक निदान है जो चेतना के प्राकृतिक आग्रहों से घिरे हुए मनुष्य का उपचार करता है और उसे नैतिक होने के लिए, बिना किसी अतिमानवीय लंगर के, आत्मचेतन रूप से तैयार करता है। दूसरे शब्दों में यह चेतना के संक्लेषों का व्यवदानीकरण है *(चित्तमेव संक्लिष्यते चित्तमेव व्यवदायते)* और इसी व्यवदानीकरण में कर्म तथा संसार का नैतिकीकरण विवक्षित है। यही इस ग्रन्थ की मूल विवक्षा है और प्रोफेसर प्रसाद की केन्द्रीय स्थापना भी है।

इस प्रकार प्रोफेसर प्रसाद ने बड़ी सफाई से बौद्ध नैतिक दृष्टि के उपयुक्त सभी पहलुओं को इस पुस्तक में यथास्थान अपने संज्ञान में लिया है और यथासम्भव अपनी शैली में उसे साफ–सुथरे ढंग से रखने का प्रयास भी किया है। परन्तु मोटे तौर पर वैदिक–औपनिषद् परम्परा की मूल्य दृष्टि और मन्वादिक प्रतिपादित न्याय–धर्म अर्थात् सामाजिक आचार–संहिता की बहुविध आलोचना का इतना विस्तृत ताना–बाना उन्होंने बुना है कि बौद्ध नीति अपनी निजता में केवल उसके अन्दर से झांकती हुई प्रतीत होती है। परन्तु इस पुस्तक के झरोखे से झांकती हुई बौद्ध नीति को तब एक विस्तृत फलक प्राप्त होता है जब पुस्तक के आठवें और नवें अध्याय में प्रोफेसर प्रसाद अन्तरसांस्कृतिकता और सांस्कृतिक आत्मसातीकरण की बौद्ध दृष्टि तथा उत्तर आधुनिक सन्दर्भ में बौद्ध नीति पर पूरी अकादमिक संवदेनशीलता के साथ विचार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी विवेचनायें अत्यन्त ही विद्वतापूर्ण और समीचीन हैं तथा आधुनिक अध्येतृता के सर्वथा अनुरूप भी हैं। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर प्रसाद इस बात के मर्म को समझने और समझाने में पूरी तरह सफल हुए हैं कि बौद्ध धर्म प्रसारवादी होते हुए भी अन्य प्रसारवादी धर्मों की तरह क्यों एकाधिकारवादी और हिंसात्मक नहीं है। इस प्रकार कुल मिलाकर बौद्ध धर्म–दर्शन पर अंग्रेजी–हिन्दी में लिखे गये अनेकों ग्रन्थों के बीच यह ग्रन्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयवस्तु, और सामग्री की दृष्टि से बिलकुल अलग ढंग का है और इस कारण प्रोफेसर प्रसाद की इस कृति से बौद्ध साहित्य समृद्ध भी हुआ है। अतः एक सहयात्री भाव से मेरी यही शुभकामना है कि यह ग्रन्थ अधिक से अधिक पाठकों को और अधिक सोचने के लिए आकर्षित करे और सर्जना की इस पीड़ा को उठाने के बदले प्रोफेसर हरिशंकर प्रसाद को यश प्राप्त हो।

दर्शनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)